❀ ॐ ❀

कौशल्य गीतावली।

अर्थात्

वेदान्त केसरी के प्रथम तीन पुस्तकों में
आये हुये पदों का संग्रह

———:o:———

भुजंगी

सतावे न माया नहीं काल ग्रासे।
सुखी ही सुखी हो! सदानन्द भासे॥
तिहूं ताप नाशें मिटे मैल जी का।
करो पाठ कौशल्य गीतावली का॥

———):o:(———

लेखक—पं० शङ्करलाल कौशल्य

प्रकाशकः—
बा० श्यामलाल गुप्त, व्यवस्थापक वेदान्तकेसरी
बेलनगंज, आगरा।

मुद्रक—महाशय जगनप्रसाद,
आर्य्यभास्कर प्रेस, माईथान, आगरा।

(द्वितीय संस्करण)

सम्वत् १९८५]   मूल्य ।=)   [सन् १९२८

विषयानुक्रमणिका ।

प्रकरण		विषय	पृष्ठ

कौशल्य गीतावली ।

प्रथम भाग ।

—→※※←—

॥ मंगल ॥

कुण्डलियां ।

भासे द्वैत प्रमाद से, है अद्वैत अखंड,
द्वैत मिले अद्वैत में, यही प्रणाम प्रचंड;
यही प्रणाम प्रचंड, पिंड ब्रह्मांड मिटावे,
जगत दुःख का वृन्द, द्वन्द्व-अज्ञान नशावें,
खंड खंड करि दृश्य, अखंड स्वरूप प्रकाशे,
पढ़ वेदान्त केसरी," द्वैत भ्रम लेश न भासे ॥१॥

माया की सत्ता नहीं, तो भी है संसार,
मिटै नहीं अज्ञान से, करि करि कर्म हज़ार;
करि करि कर्म हज़ार, इष्ट उपासन द्वारा,
द्रव्य दान अरु पुण्य, व्रत तप बहुत प्रकारा;
किये शान्ति नहिं होय, क्लेश हर ज्ञान बताया,
पढ़ वेदान्त केसरी," छुटे सब तेरी माया ॥२॥

नाम रूप हरि हर जगत, ब्रह्मा जहां विलाय,
सो परमातम आतमा, जिसमें सभी समाय;

जिसमें सभी समाय, सच्चिदानन्द अखंडित,
उस में अहम टिकाव, होय शान्ति श्रीमंडित;
यह है आशीर्वाद, गिरौ नहीं अंधे कूप,
पढ़ वेदान्त केसरी, प्रगट हो सत्य स्वरूप ॥३॥

पूरण यह है नित्य ही, वह भी पूरण जान,
पूरण से पूरण बनै, यह आश्चर्य महान;
यह आश्चर्य महान, पूर्ण से पूरण लेकर,
शेषहि पूरण रहे, अखंडित सुख चिन्ता हर;
मिट जावे भव दुःख, पुरुषार्थ हो सम्पूरण,
पढ़ वेदान्त केसरी, तभी हो प्रणाम पूरण ॥४॥

(१) श्री सद्गुरु प्रकरण ।

१—गुरु वन्दना ।

वसंत तिलका वृत्त ।

वन्दों गुरु चरण पंकज चित्त लाई ।
जाकी कृपा सहज ही भव रोग जाई ॥
आनन्द होय मन में भय शोक जावे ।
विक्षिप्त चित्त थिरता परिपूर्ण पावे ॥१॥

जो चित्त मांहि गुरु के पद पद्म लाते ।
तत्तै न ताप त्रय से सुख शान्ति पाते ॥
हो दिव्य दृष्टि हिय की सम भाव भासे ।
आत्मा रवी उदय हो तम मोह नाशे ॥ २ ॥

जावे गुरू शरण में मन कर्म वाणी ।
संसार से अभय हो भयभीत प्राणी ॥
पापी महा अधम पावन शीघ्र होवे ।
शब्दादि में न भटके सुख नींद सोवे ॥३॥

जावे गुरू शरण में भव बन्ध छूटे ।
शंका मिटे सकल चिज्जड़, ग्रंथि खूटे ॥
माया न पास फटके नहिं काल खावे ।
आवे नहीं जगत में पद आदि पावे ॥४॥

जावे गुरू शरण में नर सोहि जानों ।
ताके सिवाय सब ही मल मात्र मानों ॥
जावे गुरू शरण में सुर सिद्ध सेवें ।
ब्रह्मा मुरारि शिव सादर मान देवें ॥५॥

जो भेद लेश गुरु में हरि में विचारे ।
पापी सहस्र युगलों बहु देह धारे ॥
योनी अनेक भटके सुख से न सोवे ।
आसक्त नारि सुत में रहि मूढ़ रोवे ॥६॥

जाके सुधा वचन पीवत मृत्यु भागे ।
ताको मनुष्य कहते अति पाप लागे ॥
धारी उपाधि नर की गुरु देव आये ।
प्याला पिला अमृत का मरते जिलाये ॥७॥

आके गुरू हृदय में हरि आप बोले ।
निर्भेद तत्व बतला मत भेद खोले ॥
उद्धार कौन करता गुरू जो न आते ।
कैसे अपार जग पामर पार [illegible] ८॥

जाके लगी विषय की मन मांहि स्याही ।
दीखे स्वरूप गुरु का किस भांति ताही ॥
स्याही मिटाय मन की निज रूप देखे ।
सो ही यथार्थ गुरु का नित रूप पेखे ॥९॥
है देव एक गुरु ही नहिं देव दूजा ।
हों अर्थ सिद्ध सब ही गुरु पाद पूजा ॥
जाने न कोय गुरु को जिन जान पाये ।
कौशल्य ! धन्य नर वे विरले हि जाये ॥१०॥

२—स्तोत्रपंचक ।

त्रिभंगी छन्द ।

(१)

जय जय गुरु स्वामी, अंतर्यामी, सच्चित् आनँद राशी ।
सचराचर नायक, जन सुख दायक, माया पर अविनाशी ॥
जय करुणा सागर, सब विधि नागर, शरणपाल भगवाना ।
भक्तन हितकारी, नर तनु धारी, गावत वेद पुराणा ॥

(२)

जय भव भय भंजन, नित्य निरंजन, गुणातीत गुणखानी ।
जय अचल अकामा, पूरण कामा, मानद आप अमानी ॥
जय कमल विलोचन, संशय मोचन, ब्रह्म रूप जग त्राता ।
परिपूरण त्यागी, जन अनुरागी, चारि पदारथ दाता ॥

(३)

जानत सब विद्या, हरत अविद्या, अकल सकल कल पंडित ।
नहिं लेश विषमता, अविचल समता, एक रस ज्ञान अखंडित ॥

कोमल चित योगी, विषय वियोगी, सुखकर चिंता हर्ता ।
निज सेवक संगी, सदा असंगी, कर्ता महा अकर्ता ॥

(४)

निर्भय भय नाशक, ज्ञान प्रकाशक, सेवंत नर बड़ भागी ।
ब्रह्मादिक देवा, करते सेवा, चरण कमल अनुरागी ॥
प्रभु निशदिन ध्याऊँ, गुण गण गाऊँ, कामादिक हर लीना ।
यह मन क्रम वाचा, सेवक सांचा, जन अपना कर लीना ॥

(५)

पामर अविचारी, मिथ्याचारी, सत्य असत्य न जानें ।
सुत वित लिपटाने, निपट अयाने, किं सद्गुरु पहिचानें ॥
नहिं सद्गुरु चीन्हा, अति ही दीना, लख चौरासि भटकते ।
गुरुपद चित दीना, परम प्रवीणा, नहिं कौशल्य ! अटकते ॥

---

(२) मन प्रकरण ।

१—मन को उपदेश ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

सुन सीख मन, मत मूर्ख बन, ममता जगत् की छोड़दे ।
कोई नहीं तेरा यहां नाता सभी से तोड़ दे ॥
कर चिंतवन परब्रह्म का चित् वृत्ति उसमें जोड़ दे ।
नहिं देह तू त्रिय काल में भांडा अहं का फोड़ दे ॥

(२)

ज्यों नाव कागज की बनी जल से तुरत गल जाय है ।
तनु बाग त्यों ही सूख इक दिन धूल में मिल जाय है ॥
क्यों देह अपनी मान कर आसक्त उसमें होय है ।
क्यों पाप का क्यों पुण्य का बिनु अर्थ बोझा ढोय है ॥

(३)

सब वस्तु यहिं की यहिं रहें, संग पाप केवल जायगा ।
होगा नरक का कीट तू तब अन्त में पछितायगा ॥
ज्यों शीशि कच्चे कांच की लगते हि ठोकर टूटती ।
त्यों देह कच्ची काँच सम, है आज कल ही छूटती ॥

(४)

संबंध तनु का जीव का कब तक रहा कितना भला ।
क्षण में झटक, बन में पटक, यह जीव जाता है चला ॥
जड़ तनु न होवे जीव, क्यों तू जान कर भी भूलता ।
एकत्र करता रात दिन फिर मूर्खता पर फूलता ॥

(५)

जो जो यहां आ जन्मता सो सो यहां से जाय है ।
आ कर यहां से जाय नहिं ऐसा न कोइ उपाय है ॥
गंधर्व, सुर, राक्षस, मनुज, चर या अचर जितने हुये ।
कोई नहीं है बच सका इस काल ने सब खा लिये ॥

(६)

छोटा युवा बूढ़ा बड़ा सब काल के हैं गाल में ।
मत महल आशा का चुना कर फँस कभी जंजाल में ॥

यह महल बालू पर चुना क्षण मात्र में गिर जायगा ।
आ काल काले नाग सम भक्षण तुझे कर जायगा ॥

(७)

है कार्य किस का शेष कितना काल यह न विचारता ।
आकर अचानक बाज सम नर नारि को है मारता ॥
विकराल डाढ़ों मध्य सब ही जीव जंतु दाबता ।
तब तक दया है काल की जब तक तुझे नहिं चाबता ॥

(८)

हे मूर्ख मन ! दिन रात यह व्यवहार तुझको दीखता ।
बहु बार धोखा खा चुका फिर भी नहीं है सीखता ॥
आसक्त विषयों में हुआ बहु भांति दुःख उठाय है ।
जो मूर्ख कूटे है भुसी चांवल कहां से पाय है ॥

(९)

नहिं श्वेत होवे कोयला दिन रात मल मल धोइये ।
निकले नहीं घृत वारि में करि यत्न लाख बिलोइये ॥
नर देह रत्न अमोल्य है क्यों मूर्ख ! व्यर्थ गंवाय है ।
सुनि वाक्य गुरु का बोधप्रद सन्मार्ग क्यों नहिं जाय है ॥

(१०)

कौशल्य ! पर से पर गतो नित आद्य अपना रूप है ।
बड़भागि जो पावे उसे सो ही नरों में भूप है ॥
मरना न छूटेगा कभी जब तक अमृत नहिं खायगा ।
अज्ञान तम बिनु ज्ञान रवि कर कोटि यत्न न जायगा ॥

—:o:—

२—मन प्रति मुमुक्षु की उक्ति।

हरिगीत छन्द।

(१)

क्यों मन ! नहीं तू मानता ? बहु भांति मैं समझावता।
'विषसम विषय' है जानता, फिर भी उन्हीं में धावता॥
तू शेर है गीदड़ बना, उच्छिष्ट तुझ को भावता।
ज्यों खर खरी पीछे लगा, तैसे हि लातें खावता॥

(२)

दुख देख कर रोवे बहुत, मस्तक धुने पछिताय है।
पुनि पुनि विषय सेवन करे, सौगन्द झूठी खाय है॥
आवें विषय जब सामने, तब मोहि उन में जाय है।
जो जानि गड्ढे में गिरे, निश्चय हि सो दुख पाय है॥

(३)

ज्यों चील टुकड़े मांस ऊपर, है दूर से ही धावती।
त्यों ही विषय लखि दौड़ता, लज्जा तुझे नहिं आवती॥
अंजान भी जाता समझ, बहु काल समझाते गया।
पाषाण भी जाता पिघल, पर तू न टस् से मस् भया॥

(४)

अत्यन्त बांका चोर है, तू छल कपट बहु जानता।
जो दांव तुझको याद हैं, नहिं चोर भी पहिचानता॥
नहिं चोर ही ! डाकू महा, हथियार लाखों धारता।
[illegible] को [illegible] निर्धन [illegible] [illegible]ता।

(५)

हे दुष्ट मन ! अवगुण भवन !, क्षण २ चञ्चलता कूदता।
किस भांति तुझको वश करूं, नहिं यत्न कोई सूझता ॥
होगी सज़ा मन को अगर, कानून हो सरकार में।
मन की बता के चोरियां, नालिश करूं दरबार में ॥

(६)

जो चोर पकड़ा जाय तो, वह जेलखाने जाय है।
सरकार कैसे दे सज़ा, तू हाथ ही नहिं आय है ॥
मैंने बहुत की युक्तियाँ, हे मन ! हराने को तुझे।
नहिं काम आई एक भी, आश्चर्य अति ही है मुझे ॥

(७)

अत्यन्त ही है सूक्ष्म तू, आता नहीं है दृष्टि में।
सर्वस्व मेरा लूट कर, भटकाय है सब सृष्टि में ॥
दिखलाय झूंठी कांच तू, चिन्तामणी को छीनता।
लाखों करोड़ों जन्म तक, मिटती नहीं है दीनता ॥

(८)

जब जब लड़ा तुझ से गिरा, अब युद्ध करना छोड़ता।
हे दुष्ट मन पीछे न पड़, मैं हाथ तुझ को जोड़ता ॥
ले ले तुझे जो चाहिये, हठ सामने मेरे न आ।
दिखला मुझे मत मुख कभी, ले मान अब मेरा कहा ॥

(९)

जो तू नहीं है मानता, सम्बन्ध तुझ से छोड़ दूं।
उपदेश गुरु का याद करि शिर पैर तेरा तोड़ दूं ॥

सम्बन्ध जब मन से तजा, मन की मिटी सब दुष्टता।
शिर पर चढ़ा था जो कभी, सो पैर पर अब लोटता॥

(१०)

अत्यन्त ही जो शूर था, कायर वही अब दीखता।
था अवगुणों से युक्त जो, अब सोहि सद्‌गुण सीखता॥
जो कल विषयाकार था, सो आज ब्रह्माकार है।
कौशल्य! था जो श्वान सम, सो विश्व का सरदार है॥

३—मन को शिक्षा।

हरिगीत छन्द

(१)

हे मूढ़ मन! तव मूर्खता का अंत ही नहिं आवता।
भटके पदार्थों में सदा, नहिं लाभ कुछ भी पावता॥
लेना नहीं देना नहीं, क्यों व्यर्थ दुःख उठावता।
क्यों मूर्ख! गुड़ खाना चहे? क्यों नाक कान छिदावता?॥

(२)

जो इन्द्रियों के हैं विषय, वे ही उन्हें हैं भोगती।
क्यों नारियल बन होलिका, तू पाय है नीची गती॥
तू खा सके, नहिं पीसके, सूंघे नहीं, छूवे नहीं।
फिर कामना, किसके लिये? क्यों दौड़ता है तू कहीं?॥

(३)

कर के हजारों कामना, हर कार्य में घुस जाय है।
स्वाधीन करने और को, तू आप ही फंस जाय है॥

दुख पाय है, सकुचाय है, चिल्लाय है पछिताय है ।
करता प्रतिज्ञा आज, कल ही भूल उस को जाय है ॥

(४)

सो जाय पूजा पाठ में, सुख का सदन न सुहाय है ।
हित बात जा इस कानमें, उस कान से उड़ जाय है ॥
दिन रात गप शप में गँवा, आनन्द जी में मानता ।
लज्जित हुआ बहुवार, अब निर्लज्ज ! तज निर्लज्जता ॥

(५)

हे मूर्ख मन ! कामादि की, बहु भांति रखता याद है ।
माया कपट छल छिद्र, करने में बड़ा उस्ताद है ॥
पट्टी बँधा के आंख में, कुछ देखता नहिं भालता ।
निश दिन बनावे दिन निशा, सत् को असत् कर डालता ॥

(६)

हे दुष्ट ! तेरा संग मेरे काम कुछ आया नहीं ।
आती रहीं आपत्तियां, सब संपदा जाती रहीं ॥
दिन में सभों के सामने अरु रात को एकांत में ।
उलटी पढ़ावे पट्टियां जिस से नरक हो अन्त में ॥

(७)

हे दुष्ट ! तुझ सा धूर्त भी मैंने कहीं देखा नहीं ।
तेरे सरिस पाई नहीं विद्या वशी करनी कहीं ॥
आश्चर्य घर का हो तुझे घर को लुटाना ही रुचे ।
भेदी विभीषण हो जहां लंका वहां कैसे बचे ॥

(८)

हे चपल अब तेरी सभी चालाकियाँ मैं जानता ।
अब वश न तेरा चल सके मैं तुच्छ तुझको मानता ॥

ऐसी कवच विज्ञान की सद्गुरु कृपा पहिनी सही ।
नहिं चोट तेरी लग सके तू टूट जावे आप ही ॥

(९)

दे छोड़ सब चालाकियां अब शुद्ध होजा हे छली!
मैं जानता बलवान् था पर तू नहीं कुछ भी बली ॥
बलवान् था तू दीखता मेरी हि सत्ता पाय के ।
जो मैं न दूं सत्ता तुझे मर जाय तू कुम्हिलाय के ॥

(१०)

स्वाधीन रखने को तुझे चाबी मुझे है मिल गई ।
कल्याण तेरा होय अब प्रारब्ध तेरी खुल गई ॥
हूँ बस तेरे फंदता फिर तू कहां रह जायगा ।
कौशल्य ! छलको जान कर फिर कौन धोखा खायगा ॥

——:o:——

(३) माया प्रकरण ।

१—अरे ! भ्रान्ति से बांझ की सृष्टि फैली !

भुजंगी-छन्द ।

(१)

पिता है न माता नहीं जन्म होई ।
नहीं देह धारे नहीं चिन्ह कोई ॥
न नाना, नहीं दो, नहीं है अकेली ।
अरे ! भ्रान्ति से बांझ की सृष्टि फैली ! ॥

(२)

किसी से कभी वो न व्याही गई है।
न जा के कुटी में प्रसूता भई है॥
यहां भी वहां भी सभी ठौर छैली।
अरे! भ्रान्ति से बांझ की सृष्टि फैली!॥

(३)

रचे विष्णु ब्रह्मा, रचे शंभु गौरी।
भले औ बुरे कर्म की कीन्ह डोरी॥
रचे द्वन्द्व ईर्षादि कीन्ही सहेली।
अरे! भ्रान्ति से बांझ की सृष्टि फैली!॥

(४)

लिया शून्य से ही बना विश्व सारा।
दिखाई अवस्था गुणों को पसारा॥
वृथा चित्त चैतन्य की गांठ दे ली।
अरे! भ्रान्ति से बांझ की सृष्टि फैली!॥

(५)

बिना अस्त्र शस्त्रादि हो जीव मारे।
कभी ना मरे सो 'मरा रे' पुकारे॥
ऋषी सिद्ध हारे किसी ने न झेली।
अरे! भ्रान्ति से बांझ की सृष्टि फैली:॥

(६)

बिना यन्त्र भट्टी मसाले बनाई।
अहा! मद्य तीखी सभी को पिलाई॥

सयाने दिवाने बना फाग खेली।
अरे! भ्रान्ति से वांझ की सृष्टि फैली!॥

(७)

न होते हुये भी अनादी कहाई।
विना आदि की आदि मिथ्या दिखाई॥
विना ईंट गारे चुनाई हवेली।
अरे! भ्रान्ति से वांझ की सृष्टि फैली!॥

(८)

कहीं सृष्टि फूलों फलों की दिखावे।
कहीं झाड़ काँटे हजारों लगावे॥
कहीं होय गैंदा कहीं हो चमेली।
अरे! भ्रान्ति से बांझ की सृष्ट्रि फैली!॥

(९)

कहीं देव आकाश में हैं बनाये।
कहीं नाग पाताल में जा बसाये॥
मनुष्यादि योनी कहीं कीन्ह भेली।
अरे! भ्रान्ति से वांझ की सृष्टि फैली!॥

(१०)

महा पुण्य कौशल्य! लाखों किये हैं।
कृपापात्र जे सद्गुरू के हुये हैं॥
गले है उन्हें देख ज्यों वर्फ डेली।
अरे! भ्रान्तिसे वांझकी सृष्टि फैली!॥

(४) विवेक प्रकरण ।

१—रामचन्द्र जी का उपदेश लक्ष्मणजी को।

(वनवास समय)

पद—

राम कहैं सुन लक्ष्मण भाई,
तजहु क्रोध सुर मुनि दुख दाई ॥१॥
पाँच भूत की देह अनातम,
उस की ममता मूरखताई ॥२॥
विष्ठा भस्म कीट हो आखिर
करि थकिये लाखों चतुराई ॥३॥
क्षण भंगुर ये भोग रोग सम,
उनकी चाह किये न भलाई ॥४॥
ज्यों जल बूंद गर्म लोहे पर,
त्यों हि आयु क्षण मध्य विताई ॥५॥
व्याल गाल में जैसे मैंढक,
चाहे है डासों को खाई ॥६॥
काल व्याल के गाल लोक त्यों,
करैं भोग की आश सदाई ॥७॥
विषय भोग के कारण निश दिन,
पराधीन नर करैं कमाई ॥८॥
जाने अलग देह चेतन से,
सो क्यों भोग देखि ललचाई ॥९॥

ज्यों पीने को जल प्याऊ पर,
क्षण भर मिलैं पथिक समुदाई ॥१०॥
त्यों पितु मातु बंधु दारा सुत,
मिल कर इधर उधर चल जाँई ॥११॥
लक्ष्मी छाया सम है चंचल,
लहर समान तात तरुणाई ॥१२॥
रोग युक्त जग सदा स्वप्न सम,
वृथा यहाँ मूरख दुख पाई ॥१३॥
रात दिवस दो पंखों से नित,
आयू अति ही वेग उड़ाई ॥१४॥
देखै जन्म मरण औरों का,
नहिं चेते कैसी जड़ताई ॥१५॥
भोग भोगता मूढ़ रात दिन,
काल वेग नहिं दे दिखलाई ॥१६॥
कच्चा घट जल से ज्यों पूरण,
आयु देह त्यों देय गलाई ॥१७॥
बाघिन सम नित जरा डरावे,
ताके मृत्यु, जांउ कब खाई ॥१८॥
क्षण भंगुर यह देह पाय नर,
ऐसा गर्व करै न लजाई ॥१९॥
"इस जग में मैं भूप शिरोमणि,
मेरे सम किसकी प्रभुताई" ॥२०॥
हड्डी मांस मूत्र मल पूरण,
युक्त विकार आगमापाई ॥२१॥

सो तनु आतम होय कौन विधि,
जिसमें अवगुण लाख सवाई ॥ २२ ॥
करि अभिमान देह में लक्ष्मण,
जगत जलाना तुम्हें सुहाई ॥ २३ ॥
जिन को देह गेह अभिमाना,
अवगुण उनमें सब प्रगटाई ॥ २४ ॥
'मैं तनु हूँ' अज्ञान यही है,
'नहिं तनु मैं' यह ज्ञान कहाई ॥ २५ ॥
है अज्ञान जगत् का कारण,
उस को ज्ञान समूल मिटाई ॥ २६ ॥
करे उपाय मुमुक्षु, उसी का,
काम क्रोध लोभादि जलाई ॥ २७ ॥
उन दोनों में क्रोध प्रबल अति,
पित्त समान जो हृदय जलाई ॥२८ ॥
जिसके वश नर करि नाना अघ,
लोक तथा परलोक नशाई ॥ २९ ॥
मित्र पिता भाइन को करि वध,
रौरव नरकों में भटकाई ॥ ३० ॥
क्रोध जलावे छाती निश दिन,
क्रोधहि धर्म क्षीण करवाई ॥ ३१ ॥
बंधन कारण मुख्य क्रोध ही,
क्रोध तजो यह ही मनुषाई ॥ ३२ ॥
महा शत्रु यह क्रोध जानिये,
तृष्णा वैतरणी बतलाई ॥ ३३ ॥

नवुन बन संतोष कहावे,
शान्ति समझिये कामद गाई ॥ ३४ ॥
शान्ति युक्त हो जो नर प्रति छण,
तो यह शत्रु सकें न सताई ॥ ३५ ॥
देह, इन्द्रियां, प्राण, बुद्धि, मन,
इन से आत्म रहे बिलगाई ॥ ३६ ॥
स्वयं ज्योति अविकारी निर्मल,
जब तक इस का मर्म न पाई ॥ ३७ ॥
तब तक जन्म मरण के दुख से,
मुक्ति कभी भी हाथ न आई ॥ ३८ ॥
इस से भिन्न जानि आतम नित,
यथा लाभ विचरो हर्षाई ॥ ३९ ॥
भातु अनुज को समुझा इस विधि,
बन को शीघ्र चले रघुराई ॥ ४० ॥

दोहा ।

लक्ष्मण को उपदेश यह, तात ! दिया रघुनाथ ।
नित्य पढ़े कौशल्य ! जो, सो पावे परमार्थ ॥ ४१ ॥

——:卐:——

(५) वैराग्य प्रकरण ।

१—यह सभी किस काम के ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

सुन्दर वदन, तनु कांतिमय, सब अङ्ग दृढ़ आयुष् युवा ।
अनुकूल जन कुल श्रेष्ठतम जगमान्य सब से ही सिवा ॥

चारों दिशा में गीत गाये जांय तेरे नाम के।
रे हाय! मरने बाद तेरे ये सभी किस काम के॥

(२)

ज्यों राजगृह गृह सज रहा सामग्रि अपरम्पार है।
जागीर वीसों ग्राम की धन अन्नमय भंडार है॥
मौजूद हैं जो चाहियें व्यापार सब आराम के।
रे हाय! मरने बाद तेरे ये सभी किस काम के॥

(३)

आदर सभी तेरा करें कोई वचन नहिं टालते।
नौकर गुमाश्ते दास दासी सब हुकुम पर चालते॥
सुन्दर बगीचा वृक्ष बहु अमरूद जामुन आम के।
रे हाय! मरने बाद तेरे ये सभी किस काम के॥

(४)

गज गामिनी, शुचि भामिनी, रंभा सदृश प्रिय भाषिणी।
चंद्रमुखी, मृग नयनि, शोभा खानि, चित्ताकर्षिणी॥
मीठे वचन मन भावने सुत पुत्रियों छवि धाम के।
रे हाय! मरने बाद तेरे ये सभी किस काम के॥

(५)

बूढ़े बड़े शिर पर बने दुख दर्द तेरा टारते।
सन्मित्र आपति काल में निज प्राण तक हैं वारते॥
है राज्य में भी मान्य, पूजें लोग सब ही ठाम के।
रे हाय! मरने बाद तेरे ये सभी किस काम के॥

(६)

रथ हैं, फिटन हैं, पालकी, गौ, अश्व, हाथी हैं घने।
डेरे तथा तंबून से महफ़िल हज़ारों ही बने॥

खोले मदरसे पाठशाला क्षेत्र अन्न वगाम के ।
रे हाय ! मरने बाद तेरे ये सभी किस काम के ॥

(७)

व्यापार फैला दूर तक बहु नाव आवें जांय हैं ।
इस शहर से उस शहर में सब वस्तुयें पहुँचांय हैं ॥
चांदी कनक हीरे जवाहर लाल पूरे दाम के ।
रे हाय ! मरने बाद तेरे ये सभी किस काम के ॥

(८)

पा दान वन्दी भाट जन नित उठ प्रशंसा गावते ।
खोले अनाथालय जहां कितने हि भोजन पावते ॥
नर नारि रहते आसरे क्या शहर के क्या ग्राम के ।
रे हाय ! मरने बाद तेरे ये सभी किस काम के ॥

(९)

वाराणसी शुचि क्षेत्र में योगादि शुभ क्षण पाय के ।
दीन्हा विविध विधि दान विप्रन दुग्ध अन्न जिमाय के ॥
चारों दिशा में धूम कीन्हें धाम जग विश्राम के ।
रे हाय ! मरने बाद तेरे ये सभी किस काम के ॥

(१०)

ऐश्वर्य सब ही प्राप्त है नहिं शांति तो भी आवती ।
नहिं शोक मिटता है कभी चिन्ताग्निचित्त जलावती ॥
कौशल्य ! सब शाकल्य कर होजा शरण घनश्याम के ।
रे हाय ! मरने बाद तेरे ये सभी किस काम के ॥

२--संसार-स्वप्न ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

जब देखते हैं जाग कर तब लोप जग होजाय है ।
जब नींद में सोजांय अद्भुत खेल दृष्टी आय है ॥
चैतन्य भूमी बीच चित अंकुर बहुत उपजाय है ।
करि करि विषय की वासना चौरासि में भटकाय है ॥

(२)

यहि दीन हो दर दर फिरे दानी यही कहलाय है ।
कायर यही रण से भगे यहि घाव लाखों खाय है ॥
करि पुण्य जाता स्वर्ग में यहि नरक में दुख पाय है ।
अभिमान कर यहि जीव हो यहि ब्रह्म हो सुख पाय है ॥

(३)

हैं भूत पांचों ब्रह्म में जग भूत का विस्तार है ।
वहि ब्रह्म अणु अणु में बसा तब ब्रह्म ही संसार है ॥
फल फूल पत्ते डाल जड़ सब वृक्ष के ही नाम हैं ।
मथुरा बनारस द्वारिका पुरि ब्रह्म के ही धाम हैं ॥

(४)

चहुं वेद कहते हैं यही षट शास्त्र ये ही मानते ।
कोविद कवी ऋषि सिद्ध मुनि योगी यती सब जानते ॥
कुंडल कनक हैं एक ही नहिं भेद रंचक पाइये ।
जिसके हिये की बन्द हों कैसे उसे समझाइये ॥

(५)

माया बनावे ईश को माया हि जीव बनावती ।
त्रयलोक औ चौदह भुवन रचना वही दिखलावती ॥
निज रूप को देवे छुपा चैतन्य को बहकावती ।
देवे असत् को सत् बना सत् को असत् दर्शावती ॥

(६)

इस देह के शोधे विना नहिं हाथ आता सार है ।
पढ़िये उमर भर शास्त्र बहु मिलता न जगका पार है ॥
जो मूर्ख तन्दुल फेंक कर सुख मान छिलका खाय है ।
हो भूख उसकी दूर कब वृथा ही जन्म गंवाय है ॥

(७)

इन्द्री विषय के स्वाद में जो मूढ़ जन आसक्त है ।
गुरु ज्ञान विन विक्षिप्त चित होता कभी नहिं तृप्त है ॥
माया विषे लिपटा हुआ सुत नारि धन में धावता ।
नर देह पाई पुण्य बड़ विनु अर्थ उसे गंवावता ॥

(८)

बातें करे बहु ज्ञान की नहिं तत्व को पहिचानता ।
तोता वचन उच्चारता नहिं अर्थ उनका जानता ॥
मैंपन न त्यागे जब तलक भव बन्ध से नहिं छूटता ।
मणके नहीं होते अलग तागा न जब तक टूटता ॥

(९)

जो देह होवे ज्ञान विनु अपवित्र अति ही जानिये ।
वह भूत प्रेत पिशाच गृह शमशान सम पहिचानिये ॥

लोहू त्वचा मेदा तथा मल मूत्र का भंडार है ।
नहिं काम आवे अंत में पशु पक्षि का आहार है ॥

(१०)

धिक् जन्म को, धिक् कर्म को, धिक्कार बुद्धी के लिये ।
धिक्कार धन, धिक्कार कुल, धिक्कार पदवी के हुये ॥
कौशल्य ! जिनको पाय नर संसार से नहिं मुक्त हो ।
सुत नारि धन परिवार गृह दुख रूप में आसक्त हो ॥

---

(६) मुमुक्षु प्रकरण ।

१—न जाने कहां जाय नौका हमारी ।

भुजंगी छन्द ।

(१)

नहीं बांस बल्ली न पत्वार ही है ।
हवा के सहारे बही जा रही है ॥
महा सिंधु खारी जगत् है विकारी ।
न जाने कहां जाय नौका हमारी ! ॥

(२)

तरंगें बड़े वेग से आ रही हैं ।
बहाये हुये नाव ले जा रही हैं ॥
हजारों महा मच्छ स्वच्छंद चारी ।
न जाने कहां जाय नौका हमारी ! ॥

(३)

कभी ऊर्ध्व आती कभी अर्ध जाती।
कभी चक्र खाती हुई है दिखाती॥
दिशा चार में पूर्ण वारी हि वारी।
न जाने कहां जाय नौका हमारी! ॥

(४)

पुरानी हुई नाव हैं छिद्र लाखों।
भला कौन सी भांति से धैर्य राखों॥
न कोई कहीं दीखता दुःख हारी।
न जाने कहां जाय नौका हमारी!॥

(५)

नहीं गांठ पैसा नहीं पास तोशा।
किसी मित्र का भी नहीं है भरोसा॥
गई सोच ही सोच में उम्र सारी।
न जाने कहां जाय नौका हमारी!॥

(६)

न कोसों कहीं दीखता है किनारा।
नहीं हाथ ना पैर देते सहारा॥
गई देह की शक्ति है बुद्धि हारी।
न जाने कहां जाय नौका हमारी!॥

(७)

नदी आंसुओं की बही आ रही है।
महा शोक के सिंधु में जा रही है॥
उठें झाल ज्यों सिंधु तल्वार मारी!।
न जाने कहां जाय नौका हमारी!॥

(८)

हुई बन्द आखें गई ज्ञान शक्ती ।
नहीं यत्न कोई मिटे जो विपत्ती ॥
कहां जांय कैसे बचें हे मुरारी ! ।
न जाने कहां जाय नौका हमारी ! ॥

(९)

गिरे बर्फ ज्यों अग्नि छाती जलाता ! ।
करे गर्जना मेघ, जी कांप जाता ॥
करे हाय विद्युत् चकाचौंध भारी ।
न जाने कहां जाय नौका हमारी ! ॥

(१०)

हुआ पुण्य कौशल्य ! कोई सहाई ।
अकस्मात् ही दूसरी नाव आई ॥
चढ़ाया हमें नाव पे कर्णधारी ।
तभी से चली ठीक नौका हमारी ! ॥

२—आत्मचिन्तवन ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

सुख साध्य चिंतन आत्म का सनकादि मुनि को इष्ट है ।
तजि आत्म जो विषयन भजे सो दुष्ट पाता कष्ट है ॥
सब भाव तज परमात्म भज यह ही परम पुरुषार्थ है ।
आसक्ति भौतिक भाव में नर जन्म खोना व्यर्थ है ॥

(२)

इसके सिवा नहिं अन्य कोई मुक्ति का आधार है।
शास्त्रों पुराणों वेद का उपदेश यह ही सार है॥
योगी यती मुनि सिद्ध गण सब का यही सिद्धांत है।
जो आत्म को नहिं भूलता वहि संत है वहि शान्त है॥

(३)

संसार सागर तरण हित गुरु पद जहाज बनाइये।
वैराग्य अरु अभ्यास की सीढ़ी बना चढ़ जाइये॥
मल्लाह सद्गुरु रूप पर विश्वास पूरण लाइये।
तन मन वचन तिहुँ अर्पि कर भव सिंधु से तर जाइये॥

(४)

जो मूढ़ नर अज्ञान वश घृत हेतु वारि विलोवता।
नहिं हाथ उसके आय कुछ आयुष्य यों ही खोवता॥
तैसे हि नर जो आत्म तजि अन आत्म में मन लावता।
भटके अनेकों योनियों में दुख अनेकों पावता॥

(५)

मति हीन कोई कीर्ति हित बहु पाप करि मर जाय है।
तप हेतु कोई मूर्ख जन निज देह व्यर्थ गलाय है॥
इस भांति नर अविचार से बहु कल्प कष्ट उठाय है।
भव त्रास मिटती है नहीं, दिन दिन अधिक अधिकाय है॥

(६)

दिन रात दीजे दान बहु विधि लौट जग में आइये।
काशी चिराओ शीश छुट्टी मृत्यु से नहिं पाइये॥

विनु ज्ञान अन्य उपाय से नहिं भय मरण का जाय है।
भय सर्प का मिटता तभी जब रज्जु दृष्टी आय है॥

(७)

हो लक्ष्य जिसको आत्म का नहिं काल उसको खाय है।
नहिं पाप पुण्य लगें उसे नहिं लेश दुःख उठाय है॥
देवादि जोड़ें हाथ सब, नहिं शत्रु से अपमान हो।
पाताल नभ जल थल जहां जावे तहां सन्मान हो॥

(८)

संकल्प जिसका सिद्ध हो फिर कार्य उसका क्यों रुके।
जिसको मिले चिन्तामणी सो निर्धनी क्यों हो सके॥
नव निद्धि आठों सिद्धियां आगे खड़ी सेवें उसे।
जो आप पूरण काम हो फिर शेष रहवे क्या उसे॥

(९)

जो हो शरण विश्वेश की सो क्यों न पूरण काम हो।
जब रूप होवे राम का तब आप ही आराम हो॥
विश्वास नहिं विश्वेश का बहु कामना मन मांय हैं।
हत भाग्य नर भव कूप गिर जन्में मरें पछितांय हैं॥

(१०)

सब काम तज परमात्म भज कौशल्य ! जो सुख चाहता।
बड़ पुण्य से नर तनु मिला क्यों व्यर्थ उसे गंवावता॥
जिसने भजा परमात्म को वहि साधु है, वहि संत है।
शूरा वही, पूरा वही, निर्भय वही निश्चिन्त है॥

३—मुमुक्षु।

छप्पय छन्द।

सहे न वृथा विलम्ब, मोक्ष साधन अनुरागे।
जे साधन विपरीत, प्रीति उन सब की त्यागे॥
जो जो दीखे भूल, मूल से ताहि नशावे।
परि पूरण उत्साह, साथ साधन मन लावे॥
सुत, वित, नारि, कुटुम्ब का, संग जिसे नहिं भावता।
जाने जलता अग्नि जग, सो मुमुक्षु कहलावता॥१॥

वश हों मन, वच, देह, नेह आतम में जागे।
जग से होय उदास, आश सब ही की त्यागे॥
सिद्धिन की नहिं चाह, राह उनकी नहिं जाता।
ब्रह्मादिक ऐश्वर्य, तुच्छ नहिं चित्त लुभाता॥
दिव्य राज्य त्रय लोक का, विष्ठा सम न सुहावता।
जाने जलता अग्नि जग, सो मुमुक्षु कहलावता॥२॥

साधक निर्मल वृत्ति, नित्य निज चित्त निहारे।
विषय वासना भोग, रोग सम जानि निवारे॥
होवें लाखों विघ्न, यत्न करता ही रहवे।
त्यागे इष्ट अनिष्ट, कष्ट आवे सो सहवे॥
निज को दे धिक्कार, जब विषयन में चित् जावता।
जाने जलता अग्नि जग, सो मुमुक्षु कहलावता॥३॥

अज्ञानी कृत कर्म, शास्त्र वर्णित फल देता।
मोक्ष हेतु वहि कर्म, चित्त कर निर्मल देता॥

श्रवण करे दे कान, ज्ञान मिथ्या सब छूटे।
मनन करे दे चित्त, जगत् का दृढ़ गढ़ टूटे॥
करे अखंडित ध्यान नर, शीघ्र परम पद पावता।
जाने जलता अग्नि जग, सो मुमुक्षु कहलावता॥ ४॥

मरु थल है संसार, वारि की बूँद न जिसमें।
कैसे प्यास बुझाय, अज्ञ भूले है इसमें॥
सुख का नहिं लवलेश, दुःख ही दुःख भरा है।
दुःख मानि सुख रूप, कूप में मूर्ख गिरा है॥
जानि विवेकी सत् असत्, धोखे में नहिं आवता।
जाने जलता अग्नि जग, सो मुमुक्षु कहलावता॥ ५॥

ब्रह्म देश वन स्वच्छ, शब्द दे मधुर सुनाई।
ज्ञानी हंस प्रवीण, श्रवण कर सुख अति पाई॥
होय परम आनन्द, हृदय में नाहिं समावे।
हो प्रपंच का बाध, व्याधि, भय, शोक नशावे॥
मिट जावें त्रय ताप, आप में हि आप समावता।
जाने जलता अग्नि जग, सो मुमुक्षु कहलावता॥ ६॥

ब्रह्म आनन्द अमृत, विषय सुख विष सम मारे।
चक्खे ब्रह्मानन्द, विषय निस्वाद निहारे॥
ब्रह्म अमोल्य, सुरत्न, यत्न कर पंडित पावे।
विषय चमकती कांच, अच सम, पास न जावे॥
हित अनहित पहिचान कर, ज्ञानी दुख न उठावता।
जाने जलता अग्नि जग, सो मुमुक्षु कहलावता॥ ७॥

दीखे जग रमणीय, मद्य घर माहिं बगीचा।
सड़ता रहता नित्य, जाय दुर्गंधिन सींचा॥

दुख भंडार अशुद्ध, शुद्ध वुद्धी का हर्ता।
परमारथ का शत्रु, सर्व अनरथ का कर्ता॥
आत्म अनात्म विचार नर, भव कौशल्य ! नशावता।
जाने जलता अग्नि जग, सो मुमुक्षु कहलावता॥ ८॥

---

(७) मोक्ष प्रकरण।

१—मोक्ष क्या है ?

हरिगीत छन्द।

है समझने में सहज अति, असमझ समझ सब छोड़िये।
करिये क्रिया व्यवहार की, मत प्रेत वृत्ती जोड़िए॥
कतृत्व में, हूँपन नहीं, फल शून्य आखिर मानिए।
यहि मोक्ष, यहि निर्वाण, यहि, कैवल्य पदवी जानिए॥ १॥
बाकी नहीं है कर्म कुछ, नहिं कामना बाकी रही।
अब जाप किसका कीजिये, जब जाप्य जापक एक ही॥
जापक नहीं तब जप कहां, नहिं भाव त्रिपुटी आनिए।
यहि मोक्ष, यहि निर्वाण, यहि, कैवल्य पदवी जानिए॥ २॥
संगत किसी की मत करो, फिर भी पड़ो न असंग में।
संगत असंगत जाहि से, रँगना उसी के रंग में॥
करि अंग भंग प्रपंच के, पी भंग लम्बी तानिए।
यहि मोक्ष, यहि निर्वाण, यहि, कैवल्य पदवी जानिए॥ ३॥
नहिं सत्य ही न असत्य ही, न जड़त्व नहिं चैतन्यता।
है एक स्वतः स्वरूप से, दो भाव की है भिन्नता॥
दिन एक मध्य प्रकाश तम, दोनों हि ज्यों पहिचानिए।
यहि मोक्ष, यहि निर्वाण, यहि, कैवल्य पदवी जानिए॥ ४॥

मानें असत सत होय है, सत जान असत जनाय है।
सत जो नहीं तो असत क्या, नहिं असत सत छुप जाय है ॥
करिके मथन सत असत का, घृत सार लेकर जानिये ।
यहि मोक्ष यहि निर्वाण, यहि, कैवल्य पदवी जानिये ॥ ५॥

ध्यानी नहीं नहिं ध्येय ही, ज्ञाता नहीं नहिं ज्ञेय है।
दोनों प्रकाशे एक जो, दोनोंहि से जो श्रेय है॥
है आतम सब का वही, यह भांति निश्चय ठानिए ।
यहि मोक्ष, यहि निर्वाण, यहि, कैवल्य पदवी जानिए ॥६॥

सब ठौर व्यापक एक रस, आना न जाना है कहीं।
किस भांति होवे कल्पना, जब एक तजि दूजा नहीं ॥
है ब्रह्म जग, जग ब्रह्म है, निर्भेद तत्व प्रमाणिए।
यहि मोक्ष, यहि निर्वाण यहि, कैवल्य पदवी जानिए ॥ ७॥

निश्चिंत हो चिंता बुरी, नहिं भूल चिंता कीजिये ।
चिंता जलावे चित्त को, मत चित्त उस में दीजिये ॥
चिंता मिटे चित स्वस्थ हो, तब ब्रह्म अक्षर भानिए ।
यहि मोक्ष, यहि निर्वाण, यहि, कैवल्य पदवी जानिए ॥ ८॥

निन्दा प्रशंसा एकसी, सुनि शोक होय न हर्ष हो।
निर्द्वन्द्व हो सुख दुःख में, नहिं लोभ नहिं आमर्ष हो ॥
संतोष, समता, शांति, दम, ये चित्त दे सन्मानिए ।
यहि मोक्ष, यहि निर्वाण, यहि, कैवल्य पदवी जानिए ॥९॥

नित राम में आराम हो, इसके सिवा नहिं काम हो ।
जानो विषय विष तुल्य सब, निष्काम हो निर्धाम हो ॥
कौशल्य हो, सत ब्रह्म तुम, क्यों द्वैत व्यर्थ बखानिए ।
यहि मोक्ष, यहि निर्वाण, यहि कैवल्य पदवी जानिए ॥ १० ॥

(८) संत प्रकरण।

१—सो संत, सोहि अनंत है, सोही परम पद पावता

हरिगीत छन्द।

(१)

माया रहित, इन्द्रीय जित, सम शांत चित, मन में दया।
कामी छली क्रोधी नहीं, संतोष से पूरण हिया॥
ज्यों चन्द्रमा शीतल सदा, नहीं शोक चित्त जलावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सो ही परम पद पावता॥

(२)

धारे क्षमा, सत् सीख दे, धीरज कभी नहीं छोड़ता।
निज कार्य करने में चतुर, नहिं दुःख से मुख मोड़ता॥
सत् औ असत् सब जानता, धोखा कभी नहिं खावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सो ही परम पद पावता॥

(३)

विज्ञान निधि, वैराग्य दृढ़, नहिं देह का अध्यास है।
निर्लोभ भीतर से सदा, गुरु शास्त्र में विश्वास है॥
सम दृष्टि सब में राखता, नहिं राग द्वेष सतावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सो ही परम पद पावता॥

(४)

मोहादि गत, श्रवणादि रत, नहिं कामना कोई रही।
उपनिषद् पथ विचरत रहत, प्रसन्न चित अति निस्पृही॥
सुख की नहीं है चाहना, नहिं दुःख से घबरावता।
सो संत, सोहि अनंत है, सोही परम पद पावता॥

(५)

श्रद्धा सहित व्यवहार में गुरु भक्त पूरण भाव से ।
अति चतुर पर उपकार में, निष्कपट सहज स्वभाव से ॥
अनुराग मात्र स्वरूप में, नहिं अन्य कुछ भी भावता ।
सो संत, सोहि अनन्त है, सो ही परम पद पावता ॥

(६)

है बाह्य भीतर एकसा, परमात्म सब ही मानता ।
श्रुति स्मृति गुरु सिद्धान्त निज, अनुभव सहित सब जानता ॥
कर्त्तव्य कुछ बाकी नहीं, नहिं भावता न अभावता ।
सो संत, सोहि अनन्त है, सो ही परम पद पावता ॥

(७)

कुल भेद धर्माधर्म का, अच्छी तरह से ज्ञान है ।
अधिकार के अनुसार करता, सर्व का कल्याण है ॥
सामर्थ्य सर्व प्रकार की, बहु युक्तियां समझावता ।
सो संत, सोहि अनन्त है, सो ही परम पद पावता ॥

(८)

माया जगत् दोनों हि के, अल्पत्व को पहिचानता ।
नहिं भूल के करता रुची, निज आत्म ही धन जानता ॥
निस्संग शांत उदार चित, नहिं लेश चित्त चलावता ।
सो संत, सोहि अनन्त है, सो ही परम पद पावता ॥

(९)

है भाव विधि न निषेध का, आरम्भ सब ही त्यागता ।
जीवन मरण सम जान के, उन में नहीं अनुरागता ॥

उत्साह चित समता सहित, संदेह सर्व बिलावता।
सो संत, सोहि अनन्त है, सो ही परम पद पावता॥

(१०)

निन्दा प्रशंसा एक सी, अपमान मान समान ही।
आशा परिग्रह से रहित, नहिं शुभ अशुभ का ध्यान ही॥
कौशल्य ! स्थित कूटस्थ में, नहिं आवता नहिं जावता।
सो संत, सोहि अनन्त है, सोही परम पद पावता॥

—:०:—

(६) ज्ञानी प्रकरण।

१—ज्ञानी का अनुभव।

भुजंग प्रयात् वृत्त।

कहां, कौन क्या हूँ, किसे मैं बताऊँ,
नहीं दूसरा है जिसे मैं जताऊँ।
यहां हूं वहां हूं कहां मैं नहीं हूँ,
नहीं देश कोई जहां मैं नहीं हूँ॥ १॥
स्वयं सिद्ध सर्वात्म नित्याविनाशी,
समो निर्मलो सच्चिदानन्द राशी।
अहं ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वः प्रकाशी,
भवानी पतिः शंभु कैलाश वासी॥ २॥
विशुद्धो विमुक्तो परोक्षा परोक्ष,
मनो बुद्धिः साक्षी प्रत्याक्षा प्रत्यक्ष।

विभू शाश्वतो निर्विकल्पो तुरीय,
महेशो गणेशो परं पूजनीय ॥ ३ ॥
अदूजा अजन्मा सदा निर्विकारी,
गुणातीत निर्मोहि निर्लेप चारो ।
ध्रुवो निष्कलो शान्त नामी अनामी,
अदोषी अरोगी अलोभी अकामी ॥ ४ ॥
न आऊं न जाऊं सभी में समाया,
न जन्मूँ मरूं हूँ अकाया अमाया ।
सभी विश्व का एक आधार हूँ मैं,
असंगी अकेला निराधार हूँ मैं ॥ ५ ॥
नहीं हूँ यदी मैं नहीं सृष्टि होवे,
न हो सूर्य ना मेघ ना वृष्टि होवे ।
न चन्दा न नक्षत्र विद्युत न भासे,
धरा वायु आकाश सर्वस्व नाशे ॥ ६ ॥
न ब्रह्मा नहीं विष्णु ना रुद्र ही हों,
न पाताल ना स्वर्ग ना इन्द्र ही हों ।
न रागी विरागी न योगी वियोगी,
न ज्ञानी न ध्यानी न रोगी न भोगी ॥ ७ ॥
न हो चित्त बुद्धिः न ज्ञानेन्द्रियां हों,
न शब्दादि पांचों न कर्मेन्द्रियां हों ।
न हो प्राण चेष्टा पुकारे न वाणी,
अवस्था व्यवस्था न आनी न जानी ॥ ८ ॥
न अष्टांग हो योग पूजा न भक्ती,
न हो धारणा ध्यान सिद्धी न मुक्ती ।

न हो दास स्वामी पिता हो न माता,
न बेटा न पोता न रिश्ता न नाता ॥ ९ ॥
न मेरे बिना कोइ व्यापार होवे,
न हो जन्म मृत्यू न संसार होवे।
नमस्कार मेरा मुझे आप ही है,
जिसे कोइ भी जान सक्ता नहीं है ॥ १० ॥
स्वयं आप मैं आप को जानता हूँ,
मुझे जो न जाने उसे मारता हूँ।
मुझे जान कौशल्य! निश्चिन्त होवे,
परं सिद्धि पा दुःख का अन्त होवे ॥ ११ ॥

२—है श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ तू पर चाह करके भ्रष्ट है

हरिगीत छन्द।

(१)

हे चित्त! क्या है चाहता? सब वस्तु की तुहि खान है।
जो भूप हो भिक्षुक बने, सो तो बड़ा अजान है॥
क्या मांगता है इष्ट से? तू इष्ट का भी इष्ट है।
है श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ तू, पर चाह कर के भ्रष्ट है॥

(२)

मेले तमाशे देखना, तुझ को बता क्यों भय है?।
हैं खेल जादू के सभी, क्यों देख धोखा खाय है?॥
तू आप है बहु रूपिया, क्या यह तुझे अस्पष्ट है?
है श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ तू पर चाह कर के भ्रष्ट है?॥

(३)

सुख को कहां है ढूँढ़ता ? बाहर नहीं सुख है कहीं।
तू आप सुख का सिन्धु है, इसकी खबर तुझको नहीं॥
आनन्द कर इच्छा न कर, इच्छा बड़ी ही दुष्ट है।
है श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ तू, पर चाह करके भ्रष्ट है॥

(४)

क्यों रूप है तू चाहता, है मूर्ति तेरी मोहनी।
तेरी प्रभा है सूर्य में, शशि में भि तेरी रोशनी॥
आसक्त होकर रूप पर, पाता पतंगा कष्ट है।
है श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ तू, पर चाह करके भ्रष्ट है॥

(५)

हे मूर्ख तू सन्तान को, किस वासते है चाहता।
सन्तान तेरी हैं सभी, तू विश्व भरका है पिता॥
जो तू न हो नहिं होय कुछ, ब्रह्मादि जो कुछ सृष्टि है।
है श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ तू, पर चाह करके भ्रष्ट है॥

(६)

धन चाहता है किस लिये, तू नित्य माला माल है।
सिक्के सभी जिसमें बने, तू वह महा टकसाल है॥
सच्चा धनी वहि जानिये, जो नित्य ही संतुष्ट है।
है श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ तू, पर चाह कर के भ्रष्ट है॥

(७)

ऐश्वर्य क्यों है चाहता ? तू ईश का भी ईश है।
तेरे चरण की धूल पर, ब्रह्मा झुकाता शीश है॥
अभिमान को जड़ से मिटा, अभिमान व्याधी कुष्ट है।
है श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ तू, पर चाह करके भ्रष्ट है॥

(८)

क्यों सिद्ध बनना चाहता, तुझ से सभी कुछ सिद्ध है ।
है खेल सारी सिद्धियां, खिलवार तू हि प्रसिद्ध है ॥
होकर बली दुर्बल न बन, तू पुष्ट से भी पुष्ट है ।
है श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ तू, पर चाह कर के भ्रष्ट है ॥

(९)

पाण्डित्य क्यों है चाहता, तू तो महा विद्वान् है ।
सब शास्त्र तू ने ही रचे, सत् शास्त्र वाक्य प्रमाण है ॥
जो सहज है विद्वान् को, वहि मूर्ख को अति क्लिष्ट है ।
है श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ तू, पर चाह करके भ्रष्ट है ॥

(१०)

इच्छा करे क्यों ज्ञान की, तू मूल है विज्ञान की ।
ज्ञानी तुझे ही जानने, करता समाधी ध्यान की ॥
कौशल्य ने सत सत कहा, समझे असत् पापिष्ट है ।
है श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ तू, पर चाह कर के भ्रष्ट है ॥

३—आत्मानुभव ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

यह कौन कहता है कि तू माता पिता से जन्य है ।
सब कार्य कारण से परे, निस्संग तू चैतन्य है ॥
इच्छा तुझे नहिं शोभती, तू नित्य पूरण काम है ।
नहिं लेश तुझ में मोहका, निर्मोहि तेरा नाम है ॥

(२)

यह कौन कहता है कि तू, अपवित्र है परतंत्र है ।
पावन परम अवयव रहित, अक्षर सदा निजतंत्र है ॥
भय क्यों किसी से मानता, तू वस्तुतः स्वच्छन्द है ।
सुख को कहां है ढूँढ़ता, तू आप आनँद कन्द है ॥

(३)

यह कौन कहता है कि तू तो काल के है गाल में ।
है काल का भी काल तू, अविनाशि तीनों काल में ॥
ये देश वस्तू काल अरु जो कुछ उदय या अस्त हैं ।
सब का अधिष्ठाता तुही, तुझ में सभी अध्यस्त हैं ॥

(४)

हैं शक्तियां तुझ में बहुत, जिनकी न संख्या हो सके ।
तेरे सिवा उनका कभी, नहिं पार कोई पा सके ॥
यह दृश्य है जो दीखता सब में हि तेरा राज है ।
चिन्ता तुझे किस बात की, तू सर्व का शिरताज है ॥

(५)

जो आपको बुद् बुद् समझ कर ब्रह्म सागर जानता ।
सो करि वृथा ही कल्पना, दूजा समझ भय मानता ॥
जब खोल आंखें देखता, नहिं भेद रंचक पाय है ।
पानी सिवा नहिं अन्य कुछ भी देखने में आय है ॥

(६)

सागर तुही बुद्‌बुद् तुही, लहरें तुही बन जाय है ।
तू एक ही बहुरूपिये सम रूप बहु दिखलाय है ॥

अत्यन्त ही है पास तू फिर भी बहुत ही दूर है।
चर औ अचर इस विश्व में सर्वत्र ही भरपूर है॥

(७)

मन इन्द्रियां अरु बुद्धि को लगता नहीं तेरा पता।
उन सर्व से है तू परे उनकी क्रिया को जानता॥
नहिं बन्ध थी तुझ में कभी, नहिं मुक्त अब तू है भया।
तू तो सदा ही मुक्त है, धोखा तुझे था होगया॥

(८)

बादल अनिल चन्दा रवी, भय मानि तेरा घूमते।
यमराज तेरे दास हैं, तव चरण सादर चूमते॥
ऋद्धी नहीं अब इष्ट है सिद्धी नहीं कुछ चाहिए।
मिथ्या सभी तेरे सिवा, क्यों चित्त को भटकाइए॥

(९)

जो तू उपासन जप करे क्या हाथ तेरे आयगा?
हैं ध्येय ध्यानी एक ही, क्या ध्यान से फल पायगा?
ब्रह्मा तुही सृष्टी रचे, विष्णू तुही जग पालता।
तू ही भयंकर रुद्र बन कर विश्व को है घालता॥

(१०)

था जिस किसी को ढूँढ़ता, सो है तुही मत खिन्न हो।
दे ढूँढ़ने को त्याग अब तू स्वस्थ चित्त प्रसन्न हो॥
ज्ञानी जिसे हैं जानते, योगी जिसे हैं ध्यावते।
कौशल्य ! सो है आप तू, श्रुति संत कोविद गावते॥

४—इसका न मुझको ज्ञान था !

हरिगीत छन्द ।

(१)

नहिं ईश मैं नहिं जीव ही, नहिं ज्ञान नहिं अज्ञान था ।
नहिं देव दानव नहिं पशू, मनुकी न मैं संतान था ॥
सब ही उपाधी से रहित, आनन्द घन विज्ञान था ।
आश्चर्य है ! आश्चर्य है ! इसका न मुझको ज्ञान था !॥

(२)

अन्तःकरण दर्पण अलौकिक भव्य मूरति मोहिनी ।
देखी महा आश्चर्यमय थी बिम्ब जिसकी सोहनी ॥
सुख दुख न उसमें लेश था नहिं कुछ जगत् का भान था ।
कारण न था नहिं कार्य ही, इसका न मुझको ज्ञान था !॥

(३)

नेत्रों विना मैं दृश्य द्रष्टा दर्शनों से मुक्त था ।
वो भी जगत् चारों दिशा मम चक्षुओं में गुप्त था ॥
जग रूप अपना देख कर मैं आप ही भयमान था ।
था सर्प रस्सी का बना ! इसका न मुझको ज्ञान था !॥

(४)

सब मैं हि अपना आप हूँ मिथ्या हि योग वियोग है ।
प्रीतम प्रिया का भाव कहँ जब नित्य ही संयोग है ॥
यह भाव बनते थे तभी मैं जब तलक अंजान था ।
थे मनगढ़त ये भाव सब, इसका न मुझको ज्ञान था ! ॥

(५)

अन्तर बना कर आरसी जब रूप देखा आपना ।
पाया उसे अत्यन्त निर्मल मिट गई सब कल्पना ॥
मैला समझ मैं था दुखी मिथ्याहि यह अनुमान था ।
हत्या लगी निष्पाप को, इसका न मुझको ज्ञान था !॥

(६)

किस भांति करिये योग युक्ती ब्रह्म बतलाता न था ।
है भेद क्या यह शास्त्र भी कुछ भेद जतलाता न था ॥
थी आड़ मेरे बीच जो मेरा हि वह अभिमान था ।
मन भूत था शिर पर चढ़ा, इसका न मुझको ज्ञान था !॥

(७)

भूला स्वयं मैं आप को ऐसा महा मतिमंद था ।
था जान कर अंजान मैं आंखों सहित भी अंध था ॥
घूमा अंधेरे में बहुत अत्यन्त ही हैरान था ।
नहिं सूर्य छुपता धूल से, इसका न मुझको ज्ञान था !॥

(८)

झूठे सलिल के पान हित दौड़ा किया प्यासा मरा ।
ढूंढा असत् में सत्य को कारज नहीं कुछ भी सरा ॥
था मैं नशे में बावला यद्यपि महा गुणवान था ।
क्या काच है क्या है मणी, इसका न मुझको ज्ञान था !॥

(९)

करि धारणा पुनि ध्यान वर्षों योग के पीछे पड़ा ।
उपवास करि भूखों मरा तप में तपा जल में सड़ा ॥

जब जब लड़ा तब तब गिरा यद्यपि महा बलवान था।
पर्वत छुपा है राइ में, इसका न मुझको ज्ञान था!॥

(१०)

बहु काल पीछे गुरु कृपा कौशल्य! जाना आप को।
तब मर्म सारा खुल गया पाया न फिर संताप को॥
मैं सत्य चित नित एक रस सर्वत्र पूर्ण समान था।
वहि ब्रह्म वहि मैं वहि जगत्, इसका न मुझको ज्ञान था!॥

——:0:——
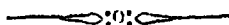
५—ज्ञानी का विनोद।

हरिगीत छन्द।

(१)

कहते जिसे हैं ईश वह है मात्र मेरी भावना।
मैं ही न हूँ तो होय किस से ईश की संभावना॥
प्राणी अनेकों जाति के मेरे हि सब आकार हैं।
व्यापार लाखों प्राणके मेरे हि वो व्यापार हैं॥

(२)

सर्वत्र मैं ही व्याप्त हूँ कहिं बिम्ब कहिं आभास हूँ।
मैं दर्श द्रष्टा दृश्य हूँ मैं दूर मैं ही पास हूँ॥
सत् या असत् कुछ या न कुछ जो कुछ कि है मैं हूँ सभी।
हो दिव्य दृष्टी गुरु कृपा से दीखता हूँ मैं तभी॥

(३)

मैं ही कहीं पर सूर्य हूँ मैं ही कहीं अणु रूप हूँ।
सागर बनूं मैं ही कहीं कहिं मैं हि बिन्दु स्वरूप हूँ॥

हूँ क्षर कहीं कहिं हूँ अक्षर कहिं ज्ञान कहिं अज्ञान में।
संसार दृष्टी से छुपा आता नहीं हूँ ध्यान में॥

(४)

मुझ गुप्त मणि की खानि में जग दीख कर छुप जाय है।
हर एक पुरजा हो अलग तब यंत्र नहिं कहलाय है॥
सब भेद तत्क्षण खुल गया पढ़ते हि आतम की कथा।
जिसको समझता था बड़ा सो वास्तविक कुछ भी न था॥

(५)

सच्चित् तथा आनन्द मैं छुप सा गया था भूल से।
कहिं नाम में कहिं रूप में ढक जाय ज्यों रवि धूल से॥
उतरी अविद्या राक्षसी अब आप को मैं जानता।
जैसे गले का हार त्यों ही प्राप्त प्राप्ती मानता॥

(६)

जब बाह्य दृष्टी छूटके दृष्टी हुई अन्तर मुखी।
तब आपको मैंने लखा स्वच्छन्द सुखि से भी सुखी॥
एकांत में बैठा हुआ भी वाक्य सुन कर धारता।
चुप चाप हूँ जिह्वा विना तो भी वचन उच्चारता॥

(७)

मित्रो! कभी मत पूछना मैं जीव हूँ या ईश हूँ।
मैं बंध मैं ही मोक्ष हूँ मैं जीव मैं विश्वेश हूँ॥
मैं बांधता मैं ही बन्धू मैं छूटता मैं छोड़ता।
देता हुँ उत्तर सर्व को नहिं मुख किसी से मोड़ता॥

(८)

ईश्वर बनूं ऐश्वर्य से सम्बन्ध कुछ रखता नहीं।
हूँ ज़ीव पर जीवत्व पाओगे न तुम मुझ में कहीं॥

मैं बन्ध में बंधता नहीं नहिं मोक्ष पाकर मुक्त हूँ।
मेरे किये हों कर्म सब नहिं कर्म से संयुक्त हूँ॥

(९)

चलता बहुत ही हूँ अहा! फिर भी नहीं जाता कहीं।
बनता बिगड़ता दीखता बनता बिगड़ता हूँ नहीं॥
मैं देख कर नहिं देखता, हूँ दीखता नहिं दीखता।
आश्चर्य की सीमा नहीं सब जान कर भी सीखता॥

(१०)

मैं जान कर नहिं जानता खाऊं न कुछ खाऊं सभी।
व्यापारि हूं सब से बड़ा व्यापार नहिं करता कभी॥
मैं हूँ तथा हूँ भी नहीं दोउ मध्य हूँ मैं भासता।
कौशल्य! मुझको जानता सो मैं हि होय प्रकाशता॥

——:※:——

६—अवधूत का पन्थ।

हरिगीत छन्द।

(१)

द्विज! पन्थ मेरा कुछ नहीं, क्यों पन्थ मुझ से पूछता।
मैं आप ही जब मर मिटा, तब पन्थ से क्या वासता॥
जो लवण पानी में मिला, सो लवण पानी हो गया।
अवधूत नहिं जब आप ही, अवधूत का फिर पन्थ क्या॥

(२)

जीते हि जी जब मर गया, निर्णय हुआ मुझको तभी।
हैं साध्य साधक एक ही, नहिं भेद उन में लेश भी॥

माया रचित हैं पन्थ सब, क्यों पन्थ का झगड़ा किया ।
अवधूत नहिं जब आप ही, अवधूत का फिर पन्थ क्या ॥

(३)

सब पन्थ कल्पित एक में, उस एक के ही जानिये ।
झूठा न झगड़ा कीजिए, अद्वैतता पहिचानिए ॥
तर्कें कुतर्कें त्याग दो, अवधूत का मानो कहा ।
अवधूत नहिं जब आप ही, अवधूत का फिर पन्थ क्या ॥

(४)

इस लोक से नहिं काम कुछ, परलोक की चिन्ता नहीं ।
सब ठौर मैं ही व्याप्त हूँ, आना न जाना है कहीं ॥
जिसने अपनपा खो दिया, उसने सभी कुछ पालिया ।
अवधूत नहिं जब आप ही, अवधूत का फिर पन्थ क्या ॥

(५)

संशय सभी जाते रहे, जाता रहा जब मैं पना ।
जो था अणु सो विभु हुआ, जो बिन्दु था सिन्धु बना ॥
नहिं तू रहा नहिं मैं रहा, जो सत्य था सो ही रहा ।
अवधूत नहिं जब आप ही, अवधूत का फिर पन्थ क्या ॥

(६)

मैं और हूँ तू और है, परदा उठा इस भेद का ।
आंखें खुलें विज्ञान की, तब अर्थ जाने वेद का ॥
है ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही, सब पन्थ से छूटा भया ।
अवधूत नहिं जब आप ही अवधूत का फिर पन्थ क्या ॥

(७)

तू आप ही पुरुषार्थ कर, क्यों दूसरे से बूझता ।
अपना पराया भूल जा, सन्मार्ग तत्क्षण सूझता ॥

सन्मार्ग जब निश्चय हुआ, तब पन्थ पन्थाई गया ।
अवधूत नहिं जब आप ही, अवधूत का फिर पन्थ क्या ॥

(८)

इस मैंपने के दोष से, आंखें न अन्धी कीजिए ।
जो है प्रकाशक सर्व का, उसको छुपा मत दीजिये ॥
खोजा नहीं आपा कभी, आयु वृथा ही खो दिया ।
अवधूत नहिं जब आप ही, अवधूत का फिर पन्थ क्या ॥

(९)

जो विष्णु भक्ती कीजिए, विष्णू स्वयं बन जाइए ।
दुर्गा तुम्हारी इष्ट है, दुर्गा हि हो सुख पाइए ॥
शिव को भजो शिव रूप हो, यह आदि मत नहिं है नया ।
अवधूत नहिं जब आप ही, अवधूत का फिर पन्थ क्या ॥

(१०)

सेवा हि जिसको इष्ट है वह इष्ट नहिं है दुष्ट है ।
सेवक बनादे आप सा, वह इष्ट हमको इष्ट है ॥
कौशल्य ! मिथ्या शिष्यगुरु, अवधूत है सत् भापिया ।
अवधूत नहिं जब आप ही अवधूत का फिर पन्थ क्या ॥

(१०) विविध प्रकरण ।

१—बुद्धि का शृंगार ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

बुद्धी तिया आतम पिया लागा जिया सत् भाव से ।
सुकुमार तन भूषण वसन लागी सजन चित चाव से ॥

आशा तजी पितु मात की ममता बहिन अरु भ्रात की ।
प्यांरी सखी सँग साथ को खेलीं हुईं दिन रात की ॥

(२) विवेक, वैराग्य.

यक ब्रह्मसत् सबंही असत् उबटनं मलत बड़ भागिनी ।
कामादि मल छूटे सकल पति पद कमल अनुरागिनी ॥
वैराग्य जल पावन धवल माया सबल धोई गई ।
भइ देह शुचि, सत में सुरुचि, जग में अरुचि पूरी भई ॥

(३) षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता

शमआदि षट, शुचि दिव्य पट सुन्दर निपट नितही नये ।
प्रति अङ्ग सज, परिपूर्ण धज, शोभा सहज मुदिता हिये ॥
पति साथ मिल होऊं अंचल इच्छा प्रबल शिर मांग की ।
सीधी सरल नहिं लेश बल बीथी अचल सौभाग की ॥

(४) श्रवण, महावाक्य

गुरुके चरण रज की शरण सेंदुर श्रवण शिर सोहता ।
साक्षात् अरुण जड़ता शमन रात्री हरण सम्मोहता ॥
नूपुर पदन श्रुति के वचन सिद्धी करण ब्रह्मैक्यता ।
दुखदल दमनि अति मधुर ध्वनि निश्चय हरणि दारिद्रता ॥

(५) जहदाजहत, मनन

यावक लगत जहदाजहत उत्साह चित अति ही बढ़ा ।
निरुपाधि पद निश्चल सुखद गत मान मद दृष्टी पड़ा ॥
साक्षी सजन अंजन मनन अन्तःकरण आंजा लिया ।
मिथ्या जगत विभु एक सत चित सर्व गत भासा पिया ॥

(६) निदिध्यासन, क्षमा

मेंहदी लगाई ध्यान को आह्लाद, दायिनी प्राण की ।
शीतल करनि, त्रय तप हरणि, शोभा जननि विज्ञान की ॥
कीन्हे करण भूषण क्षमा निन्दा प्रशंसा एक सी ।
तनु धीरता, मन धीरता, वाक् मौन्यता पूरी बसी ॥

(७) शान्ति, धैर्य

दृढ़ शान्ति नित, निश्चिंत चित, मुदिता सहित नथ नासिका ।
निष्पाप कर संताप हरि संतोष सरि सुप्रवाहिका ॥
माला रतन, धीरज गहन, लीनी पहन सुखदायिनी ।
आनन्द मन वर्षे सुमन, करि धन्य ध्वनि सुर भामिनी ॥

(८) अनुभव, प्रसन्नता,

अनुभव अतर, स्वच्छन्दतर, शुचि वास कर, दुख द्वन्द्व हा ।
समता महक फैली अधिक छः चार दिक् यश छा रहा ॥
बीड़ा चबाय प्रसन्नता लावण्यता मुख की बढ़ी ।
रवि की चमक, शशि की दमक, कान्ती कनक फीकी पड़ी ॥

(९) सविकल्प, निर्विकल्प समाधि

नहिं भाव ही, न अभाव ही, घूँघट सुहाय सुभाव ही ।
पति पत्नि एक न भिन्नता न अभिन्नता जावे कही ॥
सुसमाधि नित, त्रिपुटी रहित, शय्या अमित अद्वैतता ।
आनन्द मय नहिं होय क्षय दायिनि अभय सौभाग्यता ॥

(१०)

दम्पति मिलन, बोलन हँसन, केवल कथन ही जानिये ।
शब्दार्थ ज्यों नित एक हों, सो भिन्न क्योंकर मानिये ।

कौशल्य ! जो नित शुद्ध हो, शृंगार सोलह गायगा ।
सो सिद्ध सुर शिर पांव धर सीधा अमरपुर जायगा ॥

———:*:———

अज्ञानी तथा ज्ञानी का निश्चय

हरिगीत छन्द ।

(१)

ज्यों विप्र वर मद पान करि, चाण्डाल निजको मानता ।
त्यों ही मनुज अज्ञान वश, नहिं आपको पहिचानता ॥
निस्संग को जाने बँधा, सत् को असत् बतलाय है ।
चैतन्य को जड़ मानता, सुख रूप हो दुख पाय है ॥

(२)

ज्यों पांच अन्धे एक ही, गज पांच भांति बतावते !
करि सिद्ध निज निज पक्ष को, प्रतिपक्षि को झुठलावते ॥
त्योंही मनुज जब तक उसे, नहिं सत्य वस्तु लखाय है ।
करि करि हज़ारों तर्कना, निज जन्म व्यर्थ गँवाय है ॥

(३)

हैं चर्म के ही नेत्र जिसके; दिव्य चक्षु नहीं खुले ।
मिथ्या जगत् सत जानता, फिर ब्रह्म सुख कैसे मिले ॥
चाहे अमर पद जो पुरुष, सो हो अमर हो के सुखी ।
आशा करे जो मृतक की, सो मृत्यु पाकर हो दुखी ॥

(४)

ज्यों सूर्य सब को दीखता, उल्लू नहीं देखे उसे ।
त्यों ब्रह्म घट घट में प्रकट, नहिं मूढ़ नर पेखे तिसे ॥

साक्षी सजन अ जन मनन अन्तःकरण आभा तथा ।
मिथ्या जगत विभु एक सत चित सर्व गत भासा पिया ॥

ज्यों रात में दीपक बिना, ठोकर अवश नर खाय है ।
त्यों ज्ञान दीपक बिनु मनुज, भवकूप में गिर जाय है ॥

(५)

जैसे गधा चन्दन लदा, बोझहि मात्र उठाय है ।
बोझा उठा कर पीठ पर, मजदूरि में भुस खाय है ॥
षट् शास्त्र चारों वेद पढ़ि, जिसको न आतमबोध है ।
विद्या उसे है भार ही मजदूरि काम रु क्रोध है ॥

(६)

ज्ञानी अमानी निस्पृही, सब कामनायें त्यागता ।
मिथ्या जगत् को जानिके, उसमें नहीं अनुरागता ॥
सच्चित् तथा आनन्द घन, निज रूप में मन लाय है ।
विष जानि के सारे विषय, नहिं पास उनके जाय है ॥

(७)

सुख को नहीं सुख मानता, दुख से नहीं होता दुखी ।
दोनोंहिं कल्पित मानि के निर्द्वन्द्व रहता है सुखी ॥
करता सभी व्यवहार है, रहता सभी से है जुदा ।
देहेन्द्रियों से कार्य करि, निर्लेप रहता है सदा ॥

(८)

हो शत्रु अथवा मित्र हो, दोनों उसे हैं एक से ।
सब से हि हिल मिल के चले, नहिं काम राग रु द्वेष से ॥
डूबा रहे आनन्द में, खाता रहे ठंडी हवा ।
षट् रस मिलें तो वाह ! वा !, टुकड़े मिलें तो वाह ! वा ॥

(९)

जो इन्द्र की पदवी मिले, उसको नहीं कुछ हर्ष हो
जाना पड़े जो नरक में, तो भी नहीं आमर्ष हो ॥
निज रूप से व्यतिरेक सब, निश्चय हुई माया जिसे ।
होवे भला कब फिर रुची, झूँठे पदारथ में उसे ॥

(१०)

वो ही चतुर नर धन्य है, जिसकी हुई ऐसी स्थिती ।
पूजें उसें ऋषि सिद्ध मुनि, ब्रह्मादि सुर योगी यती ॥
है जन्म उसका ही सफल, जीता उसे ही जानिये ।
कौशल्य ! जो है ब्रह्मवित्त, सो ब्रह्म निश्चय मानिये ॥

---

३ विजय

हरिगीत छन्द

(१)

है मोह रावण अति वली, सब जीव इस से हैं दुखी ।
ऋषि मुनि तथा ब्रह्मादि सुर कोई नहीं देखा सुखी ॥
छल बल कपट पाखंड माया, पेच इस को आंय हैं ।
विद्वान कवि पण्डित गुणी, धोखा सभी खा जांय हैं ॥

(२)

आसक्ति तृष्णा ईरषा, हथियार तीक्ष्ण धारता ।
वीरों महारणधीर को, कायर बना कर मारता ॥
ले सैन्य विषयों की सदा, कामादि भट सेनापती ।
संसार भर में व्याप्त है, भयभीत हैं योगी यती ॥

साक्षी सजन अ जन मनन अन्तःकरण [illegible]

मिथ्या जगत विभु एक सत चित सर्व गत भासा पिया ॥

(३)

जीतं इसे वहि शूर है, इस लोक में वहि धन्य है।
है जन्म उसका ही सफल, वहि सिद्ध साधक मन्य है॥
हुशियार से हुशियार वह; सरदार का सरदार है।
वहि शूर है वहि वीर है, वहि राम का अवतार है॥

(४)

माता वही है सुतवती, जो पुत्र ऐसा जन्मती।
वह हि पिता सुतवान है, जिस से हुई यह सन्तती॥
जिस वंश में नर होय यह, सो वंश पावन जानिए।
रहवे जहां जिस देश में, ज्यों तीर्थ सो सन्मानिए॥

(५)

यह मोह रिपु वहु जन्म का, जब तक न मारा जायगा।
तब तक रहेगा नर दुखी, नहिं शांति सीता पायगा॥
जो शान्ति तुमको इष्ट है, कर के यतन मारो इसे।
मरतेहि इस के एक दम, निर्वाण होगे दुःख से॥

(६)

दृढ़ शील का धारण कवच, करि काम भट को डाटिए।
तलवार लेकर त्याग की, लोभादि का शिर काटिए॥
मुदिता बना शक्ती अचल, निर्मूल ईर्षा कीजिए।
संतोष तोमर से कुचल, शिर मार तृष्णा दीजिए॥

(७)

भाला असंगत का चला, आसक्ति की जड़ काट दो।
यह भांति सैना शत्र की, गुरु युक्ति से सब [illegible]॥

सैना बिना जब मोह को, निर्बल अकेला पाइए।
लेकर धनुष वैराग्य, उस पर शर विवेक चढ़ाइए ॥

(८)

अद्वैतता का लक्ष करि, रिपु ताकि मार गिराइए।
शत्रू गिरे सेना भगे; पूरण विजय तब पाइए॥
सत् बुद्धि ममता धैर्य्यता, रानी मिलें पति देवता।
हों दास दासी दिव्य गुण, शत्रू करें सब मित्रता॥

(९)

आनन्द धन भण्डार पूरण, हो न कमती जो कभी।
दिन रात कीजे खर्च, तो भी खर्च नहिं हो लेश भी॥
संतोष नन्दन बन मिले, नित सैर उस में कीजिए।
नित शान्ति कामदधेनु पा, अमरत्व पय दुहि पीजिए॥

(१०)

नहिं काम सर्प उठाय शिर, नहिं क्रोध अग्नि जला सके।
नहिं क्षोभ होवे लोभ से, नहिं द्वन्द्व कोइ सता सके॥
निर्भय फिरो संसार में, साम्राज्य निश्चल पाय के।
कौशल्य! हो कृतकार्य नर, ऐसी विजय को गाय के॥

---:❀:---

४—विना ज्ञान मुक्ती कभी भी न पावे!

भुजंगी छन्द।

(१)

किये कर्म नाना, हुये जन्म नाना।
नहीं मुक्ती का है कहीं भी ठिकाना॥

मिथ्या जगत विभु एक सत ...

भला मैल से मैल कैसे नशावे।
विना ज्ञान मुक्ती कभी भी न पावे!

(२)

करोड़ों कमाओ, नहिं मुक्ति पाओ।
न दे पुत्र मुक्ती यहीं लौट आओ॥
न ऐश्वर्य ही मृत्यु से है बचावे।
विना ज्ञान मुक्ती कभी भी न पावे॥

(३)

उपासो सदा इष्ट ना द्वैत टूटे।
नहीं दीनता जाय नां भेद छूटे॥
न भूखे रहे मूल अज्ञान जावें।
विना ज्ञान मुक्ती कभी भी न पावे!॥

(४)

वृथा ब्रह्मचर्या वृथा है गृहस्थी।
वनोवास संन्यास से हो न स्वस्थी॥
कहा वेद ने क्यों न विश्वास लावे।
बिना ज्ञान मुक्ती कभी भी न पावे!॥

(५)

कभी धर्म चाहा कभी अर्थ पाया।
कभी काम में चित्त पापी लुभाया॥
मथे मूर्ख पानी न घी हाथ आवे।
बिना ज्ञान मुक्ती कभी भी न पावे!॥

(६)

नहीं राग छोड़ा बना है विरागी।
तजे कर्म औ अग्नि, ना आश त्यागी॥
अघोरी बने कान चाहे फटावे।
विना ज्ञान मुक्ती कभी भी न पावे!॥

(७)

बने वैष्णवी हैं नहीं विष्णु देखे।
कहे जांय शैवी नहीं शम्भु पेखे॥
न जाने विना शक्ति कैसे मनावे।
विना ज्ञान मुक्ती कभी भी न पावे!॥

(८)

चहे ज्ञान के शब्द लाखों उचारे।
पढ़े शास्त्र चाहे सभा में पुकारे॥
रुकें इन्द्रियां प्रेम के गीत गावे।
विना ज्ञान मुक्ती कभी भी न पावे!॥

(९)

जटा धार ले या मुड़ा शीश लेवे।
कुटुम्बी तिया पुत्र भी त्याग देवे॥
सहे शीत उष्णादि देही गलावे।
विना ज्ञान मुक्ती कभी भी न पावे!॥

(१०)

नहीं तर्क कौशल्य! है काम आती।
न खाये विना है कभी भूख जाती॥
बँधा आप क्या दूसरे को छुड़ावे।
विना ज्ञान मुक्ती कभी भी न पावे!॥

मिथ्या जगत विभु एक सत्य...

५—नरक, स्वर्ग और मोक्ष में जाने वाले ।

हरिगीत छन्द ।

(१) नरक भोगने वाले

ऊपर बने हैं सिद्ध साधक, चित्त में छल है भरा ।
कामी सदा दर दर फिरें, ज्यों क्वार कार्तिक कूकरा ॥
जलते रहे हैं क्रोध से, नहिं काम के नहिं काज के ।
होंगे नरक के कीट वे, ग्राहक गिनो यमराज के ॥

(२)

हिंसक प्रकृति, मिथ्या वचन, चोरी करें व्यभिचार भी ।
कपटी महा करते नहीं, वर्णाश्रमी आचार भी ॥
नहिं लोक से भय मानते, नहिं पास जावें लाज के ।
होंगे नरक के कीट वे, ग्राहक गिनो यमराज के ॥

(३)

गौ पाल भूंखी मारते, सौगंद झूठी खावते ।
कीड़े मकोड़े ही नहीं, परिवार को हि सतावते ॥
जानो भिखारी कल्ह वे हैं भूप केवल आज के ।
होंगे नरक के कीट वे, ग्राहक गिनो यमराज के ॥

(४)

मन में दुराशायें भरी, ऊपर दिखावें साधुता ।
चाहें कराना इष्ट से, खोटी क्रिया की पूर्णता ॥
पर दार पर धन में रुची, भक्षक अभक्ष अनाज के ।
होंगे नरक के कीट वे, ग्राहक गिनो यमराज के ॥

(५)

शुभ आचरण नहिं एक भी, पैसा हि ईश्वर मानते।
स्वार्थी करण हैं फूंकते, नहिं आप कुछ भी जानते॥
बगला भगत जग को ठगत, पंजे रखें हैं बाज के।
होंगे नरक के. कीट वे, ग्राहक गिनो यमराज़ के॥

(६)

दिन रात करते दुर्व्यसन, नित दुर्जनों में वास है।
ज्वारी लबारी दुर्गुणी, जिन के दया नहिं पास है॥
धन खांय धर्मादा त्रता, नहिं राज के न समाज के।
होंगे नरक के कीट वे, ग्राहक गिनो यमराज के॥

(७)

कामी कुटिल विश्वास घाती, आत्म हिंसक दुर्म्रही।
पर लोक ईश्वर से विमुख, विषयुक्त सचमुंच सर्प ही॥
त्रय लोक का धन चाहते, लोभी रखत अरु ताज के।
होंगे नरक के कीट वे, ग्राहक गिनो यमराज के॥

(८) स्वर्ग जाने वाले

मैंपन तथा ममता सहित, सत् कर्म जिनको इष्ट हैं।
स्वर्गादि सुख के वासते, दानादि जो करते रहैं॥
दृढ़ भाव से शुभ कर्मकरि, चित पाप से नित रोकते।
जा स्वर्ग में कुछ दिन वहां शुभ कर्म का फल भोगते।

(९)

जो देह में आसक्त हैं, सुख भोगते हैं स्वर्ग का।
पर साथ ही होवे वहां, अनुभव उन्हें है दुःख का॥
नहिं चक्र माया का छुटे, शुभ औ अशुभ होते रहैं।
जो स्वर्ग में फल भोगते मात्सर्य से जलते रहैं॥

(१०) मुक्त होने वाले ।

निष्काम करते कर्म सब, निज आत्म सम जग जानते ।
निज आत्म औ परमात्म में, नहिं भेद रंचक मानते ॥
माया मिटा कर ज्ञान से, रहते सुखी हर हाल में ।
कौशल्य ! पाकर परम पद, जन्में न माया जाल में ॥

——:❀:——

६—वर्णाश्रम में ब्रह्मदृष्टि ।

हरिगीत छन्द ।

(१) ब्राह्मण ।

षट कर्म द्विज के करि हवन पाया अनादी ब्रह्म को ।
शव रूप से शिव रूप हो कीन्हा सफल निज जन्म को ॥
था जानना सो जान कर कृतकार्य नर जो हो गया ।
ज्ञानी अमानी संत ने ब्राह्मण उसे ही है कहा ॥

(२) क्षत्री ।

माया किला दुर्गम्य अति, शत छिद्र करके तोड़ता ।
आतम अनातम युद्ध में नहिं मुख कभी भी मोड़ता ॥
साम्राज्य निश्चल पाय के, आरूढ़ उस पर होइ है ।
ज्ञानी अमानी संत कहते, शूर क्षत्री सोइ है ॥

(३) वैश्य ।

टोटा समझ कर वास्तविक, धंधे जगत् के त्यागता ।
दिनदिन अधिक हों दिव्य गुण, ऐसे वणिज में लागता ॥
खेती करे श्रवणादि की, परिपूर्ण हो धन आत्म से ।
ज्ञानी अमानी संत सच्चा, वैश्य कहते हैं उसे ॥

(४) शूद्र ।

आसक्ति लौकिक वस्तु में, करना यही है शूद्रता ।
यह भाव तजि भजि ब्रह्म को, शूद्रत्व मूल मिटावता ॥
दासत्व था मैंपन खरा, मैंपन गया स्वामी बना ।
ज्ञानी अमानी संत कहते, शूद्र सो ही मानना ॥

(५) ब्रह्मचारी ।

ज्यों ब्रह्म व्यापक एक रस, सम भाव में विश्राम हो ।
तन मन वचन होवे यती, नहिं नाम को भी काम हो ॥
चित्त वृत्ति ब्रह्माकार करि, सत् गुण बढ़ावे नित्य ही ।
ज्ञानी अमानी संत कहते; ब्रह्मचारी है वही ॥

(६) गृहस्थी ।

आनन्द रूपी मोक्ष ही, जिस को ग्रहण के योग्य है ।
उसके सिवा संसार में, नहिं अन्य कुछ भी भोग्य है ॥
ममता नहीं घरबार की, ब्रह्माण्ड भर घर मानता ।
ज्ञानी अमानी संत उस को ही गृहस्थी जानता ॥

(७) वानप्रस्थ ।

मन रूप वन को शुद्ध करि, दुर्वासना तृण काट के ।
आनन्द की कुटिया बना, निस्संगता से पाट के ॥
मैंपन रहित एकान्त चित, कूटस्थ कुटिया में बसे ।
ज्ञानी अमानी संत जन, वनवासि कहते हैं उसे ॥

(८) संन्यासी ।

अपने सिवा सब कुछ तजे, नहिं सृष्टि रक्खे दृष्टि में ।
भीगा करे निज रूप की, आनन्द रूपी वृष्टि में ॥

बिचरे सदा सत् पंथ में; चित सेज ऊपर सोवता ।
ज्ञानी अमानी संत मति, संन्यासि सो ही होवता ॥

(९) जीवन्मुक्त ।

जीता हि जग से मर मिटे, जी जाय आतम तत्व में ।
इस देह में ही ब्रह्म पाकर, हो निरामय चित्त में ॥
आतम अनातम भेद लखि, दोनों हि से संयुक्त है ।
ज्ञानी अमानी संत कहते, सो हि जीवन्मुक्त है ॥

(१०) विदेह मुक्त ।

है तनु सहित अथवा रहित, नहिं देह में अध्यास है ।
नहिं मुक्ति का न अमुक्ति का जहं लेश भी आभास है ॥
द्रष्टा नहीं नहिं दृश्य जहँ, नहिं सत् असत् कौशल्य ! है ।
ज्ञानी अमानी संत कहते, शुद्ध यह कैवल्य है ॥

——:※:——

७—सद्गुरु दर्शन ।

छप्पय छन्द ।

हृदय पटल में स्वार्थ हुआ अंकित था जब से ।
लुप्त हुआ विज्ञान ज्ञान धीरज था तब से ॥
नहीं विश्व से रही कोई पहिचान हमारी ।
बन गये थे निर्जीव जीव कहला संसारी ॥
नहीं रही चैतन्यता हो कर के चैतन्य भी ।
सद्‌गुरु की जब हुई कृपा धन्य हुये हम अन्य भी ॥

हृदय चक्षु थे बन्द न जाना कैसे खोलें ।
बने ज्ञान के सिंधु भूंट वीथिन में डोलें ॥
क्या अपना कर्त्तव्य रहा कुछ नहीं विचारा ।
ज्ञान हुआ भयभीत भगा फिरता था न्यारा ॥
जो नित अपने पास है उसको ही जाना नहीं ।
सद्गुरु की जब हुई कृपा जहां गये पाया वहीं ॥२॥
था जीवन निष्काम स्वतः को बिन पहिचाने ।
फिरते थे वे काम कर्म करते मन माने ॥
होता रहा अनर्थ समझते अर्थ उसे थे ।
जग में जो असमर्थ जानते समर्थ उसे थे ॥
इस कारण पाखंड में जीवन नित कटता रहा ।
सद्गुरुकी जब हुई कृपा अहं ब्रह्म मुखसे कहा ॥३॥
निद्रा और आलस्य हमारे गुरू बने थे ।
उन के ही अभिमान सने हम बने ठने थे ॥
करते न थे विचार हमारा कैसे हित हो ।
गुरु जब ऐसे मिलें सुचित क्यों नहीं कुचित हो ॥
चलते उलटा मार्ग थे ब्रह्म ढूँढने के लिये ।
सद्गुरुकी जब हुई कृपा ऐसे गुरु त्यागन किये ॥४॥
धन्य धन्य वेदान्त शास्त्र अति ही सुख दाई ।
सत्य मार्ग दिखलाने वाला एक सहाई ।
अहो ऋषीश्वर धन्य शास्त्र यह सुखद बनाया ।
जिसने सब जग को भारत गौरव दिखलाया ॥
अंधकारमय जगत को सूर्य प्रभा सम शास्त्र है
मदगुरु की जब हो कृपा अधम दलन ब्रह्मास्त्रहै ॥५॥

अहो चन्द्र अरु सूर्य कहाते तुम तम नाशी।
करते जगत प्रकाश अहो तुम गगन विलासी॥
हृदय हमारे बहुत दिनों से जो तम छाया।
उसे मिटाना कभी नहीं तुम से बन आया॥
यह तो है वेदान्त ही मानव हिय तम नाश कर।
पै सद्गुरु की कृपा विन ज्ञान नहीं हो विज्ञवर॥६॥
जब से यह वेदान्त केसरी गर्ज रहा है।
लौकिक शास्त्र शृगाल सिंधु में फिरे वहा है॥
भारत वासी उठो मान भारत का रक्खो।
छोड़ गरल का पान ज्ञान मय अमृत चक्खो॥
कलियुग को सतयुग करो सीख धरो यह कान पै।
सद्गुरु की नित हो कृपा भारत की संतान पै॥७॥

गोकुलप्रसाद वर्म्मा "कविरंजन"

८—प्रभाती।

सोवत बहु देर भई, जागो मन भाई!। टेक

नित अनित करो विचार, नाम रूप माया जार।
प्रीति भाति अस्ति सार, ब्रह्म अंश राई॥ सोवत०
ये अनित दुःख रूप, दारा सुत वित अनूप।
मित्र दास और भूप, त्यागो मन लाई॥ सोवत०
श्रद्धा शम समाधान, दमोपर्ति तिक्ष मान।
मोक्ष चाह वाक्य ज्ञान, भव भय भ्रम जाई॥ सो०

आत्म ज्ञान भानु पाय, तात नाव रात जाय।
मोह कोह द्रोह छोह, तारे मिट जाई॥ सोवत०
एक राम नाम सार, शेषहु सब भांति जार।
"प्रेमीसिंह" कर विचार, भज मन! रघुराई!! सो०

प्रेमीसिंह हैडमास्टर,

——:※:——

९—आत्मस्तुति।

त्रिभंगी छन्द।

(१)

जय आत्म स्वरूपा, नाम न रूपा, अद्भुत शक्ति अमाया।
जय अग जग कर्ता, महा अकर्ता, सुर मुनि पार न पाया॥
निर्गुण, गुणधारी, अज अवतारी, वेद पुराणन गाया।
मन बुद्धि अतीता, परम पुनीता, दशों दिशा यश छाया॥

(२)

जय अचल अकामा, पूरण कामा, भोगी महा अभोगी।
निज इच्छाचारी, शुचि अविकारी, योगी महा अयोगी॥
विधि बन उपजावत, हरि हो पालत, रुद्र रूप संहर्ता।
सत् नीति सिखावत, धर्म सुनावत, मुक्ती कर भव हर्ता॥

(३)

नहिं एक न दो ही, मानो सो हो, सत्यासत्य प्रकाशी।
आवत नहिं जावत, जावत, आवत, अजर अमर अविनाशी॥
सब ही दर्शावत्, दृष्टि न आवत, कारण कार्य विहीना।
बोलत नहिं चालत, तर्क निकालत, वक्ता परम प्रवीणा॥

(४)

नहिं अंश, न अंशी, भेद प्रध्वंसी, बोध अबोध बतावत ।
नहिं धर्म न धर्मी, कर्म न कर्मी, कर्म अकर्म जतावत ॥
घटता नहिं बढ़ता, गिरत न चढ़ता, अकल कला दर्शावत ।
देता नहिं लेता, लेता देता, कैसा अचरज आवत ॥

(५)

परिपूर्ण असंगी, दीखत संगी, देश काल से न्यारा ।
विभु नित्य निरंजन, भव भय भंजन, लीला अपरम्पारा ॥
नहिं साधक बाधक, शुद्ध अबाधक, सिद्धन सिद्धी दाता ।
सच्चा नहिं झूँठा, परम अनूँठा, कहत कहा नहिं जाता ॥

(६)

सब का ही अपना, बिना कलपना, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ।
निज को नहिं जाने, सब पहिचाने, प्रज्ञ अज्ञ बन जाता ॥
चर्णोदक लेवे, सद्गुरु सेवे, तब अज्ञान नशावे ।
इस विधि कर शुद्धी, मिटा अशुद्धी, निज में निज मिल जावे॥

(७)

मैं तुझे न चीन्हा, था अति दीना, जब तुझ को पहिचाना ।
सब ही दुख भागा, सोवत जागा, अस्थिर चित ठहराना ॥
नाशी सब चिंता, हुआ निचिन्ता, सुख की निद्रा आवत ।
नहिं भय नहिं प्रीती, सरल सुरीती, द्वंद्व न लेश सतावत ॥

(८)

रवि ज्ञान प्रकाशा, निशा दुरासा, बीती हुआ उजाला ।
सत् असत् पदारथ, लखे यथारथ, जाना गोरा काला ॥

हे आत्म अनिन्दित, सुर मुनि वन्दित, तुझ मुझ में नहिं भेदा।
हूँ मैं सुख राशी, सर्व प्रकाशी, संशय तूने छेदा॥

(९)

नहिं मुझ में मोहा, काम न कोहा, राग द्वेष नहिं किंचित्।
तव शक्ति न जानी, मैं अभिमानी, था यों सुख से वञ्चित॥
होवे तव सन्मुख, पावे क्यों दुख, विमुख होय दुख पावे।
जो तुझ को जाने, सब पहिचाने, सो धोखा क्यों खावे॥

(१०)

हे आत्म अखंडित, स्वबोध मंडित, तुझे नमन मैं करता।
तुझ को मैं पाया, हुआ अमाया, निर्भय नित्य विचरता।
जो आत्म विचारत, निज पर तारत, सो कौशल्य! प्रवीणा॥
जो आत्म विसारत; हाथ पसारत; मूरख बुद्धी हीना॥

—:※:—

१०—मुमुक्षु का कर्तव्य!

छप्पय छन्द।

मात्र अविद्या पात्र, शास्त्र कहने में पंडित।
पंडित नहिं कहलाय, पाय नहिं मान अखंडित॥
नहिं विवेक वैराग्य, अज्ञ शम आदि न कीन्हा।
नहीं मोक्ष में चित्त, नित्य विषयन मन भीना॥
कैसे होवे मुक्त, नहिं सत्यासत्य विचारता।
सो पछतावे अन्त में जीती बाजी हारता॥ (१)

बोलत नहिं चालत, वर्क निकालत, वक्ता परम प्रवाणा

यही मुक्ति की रीति, प्रीति सुत वित की त्यागो।
करि इच्छा निर्मूल, भूल न विषय अनुरागो॥
इन्द्रिय करि स्वाधीन, हीन मत्सर हो जावो।
तजो काम मद क्रोध, शोध मन दम्भ मिटावो॥
न हो राग नहिं द्वेष ही, ईर्षा पास न लाइये।
रहो मग्न निर्द्वन्द्व नित, द्वन्द्व सभी सह जाइये॥ (२)

करिये निज कर्त्तव्य, सोम्य! भय लेश न कीजे।
न हो धैर्य का त्याग, त्याग लोलुपता दीजे॥
हूजे नहीं कृतघ्न, दान, दम, दया बढ़ाओ।
देखो नहिं पर दोष, रोष में कभी न आओ॥
शास्त्र वाक्य, गुरु वाक्य में, श्रद्धा पूर्ण बढ़ाइये।
कारण बिन मन इन्द्रियां, इधर उधर न डुलाइये॥ (३)

बोलो नहीं असत्य, सत्य, प्रिय, वचन उचारो।
करो नहीं आलस्य, नित्य निज धर्म विचारो॥
माता सम पर नारि, क्षार सम जानो पर धन।
हूजे मत विक्षिप्त, चित्त वश करिये क्षण क्षण॥
जो हो इच्छा मोक्ष की, अवगुण सब ही त्यागिये।
सद्गुरु शास्त्र प्रमाण करि, निज स्वरूप अनुरागिये॥ (४)

तजो देह से नेह, देह अभ्यास नशाओ।
जग से हो उपराम, नाम अरु रूप मिटाओ॥
मिटे वासना काम, आत्म सत्चित् को ध्याओ।
ब्रह्म भाव हो पुष्ट, दृश्य का खोज न पाओ॥
सूक्ष्म दोष हों क्षीण जब, शुद्ध स्वरूप प्रकाशता।
उदय होत ही सूर्य ज्यों, तारागण नहिं भासता॥ (५)

आत्म सूर्य को देख, मोह तम भागे दूरी॥
होय अखंड प्रकाश, आश होवे सब पूरी॥
स्वतः सिद्ध आनन्द, चित्त साधक अनुभवता।
पाकर अद्भुत स्वाद, वाद विषयन नहिं भजता॥
हो प्रपंच निर्मूल अति, आत्मा ब्रह्म अभिन्न हो।
टले कभी नहिं सत्य से, मोहादिक से भिन्न हो॥ (६)
दीखे इक अद्वैत, द्वैत का लेश न पावो।
कार्य होंय सब सिद्ध, सिद्ध, साधक! बन जावो॥
साधन होंय समाप्त, प्राप्त हो रूप अखंडित।
होवे जग में मान्य, धन्य नर भूषण, पंडित॥
होवे पूर्ण पुरुषार्थ तब अर्थ प्राप्त होवें सभी।
परम अर्थ करि सिद्ध फिर, आवे नाहिं जग में कभी॥ (७)
बोले मिश्री शब्द, स्वाद मीठा नहिं पावे।
खावे मिश्री शीघ्र, स्वाद मिश्री का आवे॥
मुख से गावो दोष, दोष इस विधि नहिं जावे।
करिये पूर्ण प्रयत्न, यत्न से दोष नशावे॥
दोष होय जब दूर तब, परमानन्दहि प्राप्त हो।
सत्य कहा कौशल्य! मन-मोदक कोइ न तृप्त हो॥ (८)

११—तृष्णा।

हरिगीत छन्द।

(१)

तृष्णा पिशाचिनि! हाय! तेरे संग ने अनरथ किया।
पाये अनेकों जन्म, दुख ही दुख सहे जहँ २ गया॥

ही मातु से उत्पन्न ज्यों विच्छू उसे ही खाय है।
त्योंही तुझे जो जन्म दे, उसको हि तू खाजाय है॥

(२)

ज्यों बेलि कंटक की बढ़े तैसे हि तू विस्तारती।
जो शर्त बढ़ने की करे, विषवेलि तुझ से हारती॥
ज्यों २ सहारा पाय तू त्यों २ अधिक अधिकाय है।
समता मिटाय अशांतिमद दिन २ अधिक उपजाय है॥

(३)

लम्बा बहुत तव तंतु है, नहिं खेंचने से खूटता।
चिकना, फिसलना एक अति नहिं तोड़ने से टूटता॥
मकड़ी बना कर जाल ज्यों निज भोज्य को है गांसती।
त्योंही अनेकों फंद कर, निज पति हि को तू फांसती॥

(४)

हे अन्धि तू अन्धी हुई, करि २ अनेकों कल्पना।
खाईं हजारों ठोकरें, फिर भी वही अन्धापना॥
तुझ को नहीं हूँ छोड़ता, पाया न कुछ तुझ से कभी।
तुझ सी कहीं दुष्टा नहीं! मुझ सा नहीं है मूर्ख भी॥

(५)

मूढ़ा! बिना अधिकार ही हर काम में फंस जावती।
तेरा किया नहिं होय कुछ, क्यों कष्ट व्यर्थ उठावती॥
यक्षाधिपति सम कर सका, नहिं तृप्ति तेरी कोय भी।
अब भी न [illegible]

(६)

जलता हुआ ज्यों अग्नि घी डाले अधिक ऊँचा चढ़े ।
ज्यों ज्यों करे तव पूर्ति, त्यों त्यों तू बहुत ही है बढ़े ॥
तू धूल सम अति तुच्छ है, तो भी बहुत ही है बड़ी ।
पाषाण सम भारी बने ज्यों वज्र होती है कहीं ॥

(७)

तुझ सी नहीं डायन कभी देखी किसी ने है कहीं ।
तू हर किसी को है लगी सुर, सिद्ध मुनि छोड़े नहीं ॥
ज्यों काठ में हो घुन लगा, भीतर हि भीतर नाशता ।
त्यों खा गई तू सर्व को, केवल ढचर ही भासता ॥

(८)

तेरे भयंकर रोग में सब लोग दीखें हैं फँसे ।
क्या होय औषधि आप ही जब गारुडी होवें डसे ॥
मैं भी बहुत से काल से यह औषधी था ढूँढ़ता ।
पाई नहीं औषधि कहीं, बन २ फिरा मैं घूमता ॥

(९)

किस भांत हो आरोग्यता औषधि नहीं मिलती कहीं ।
पंडित सयाने ज्योतिषी कुछ यत्न कर सकते नहीं ॥
बूटी न कोई काम दे, सिद्धी न होवे मंत्र से ।
तंत्री तथा सब थक गये, नहिं काम निकला जंत्र से ॥

(१०)

सूने शिखर के महल में सद्गुरु कृपा पाई कुटी ।
देखी वहां संतोष औषधि, पियत ही व्याधी मिटी ॥
कौशल्य ! उसका पान कर पूरी हुई आरोग्यता ।
तृष्णा ! भगी तू आश तज, पाया नहीं तेरा पता ॥

१२—परा पूजा।

छप्पन छन्द।

देव एक अद्वैत, द्वैत बिनु, पूरण पाऊं।
पढ़ि आवाहन मंत्र, अत्र किस भांति बुलाऊं॥
जो सब का आधार, धारता विश्व भरे को।
दे आसन बैठाउं, ठाउं कहं धाम परे को॥
सर्व विश्व यक पाद भर पाद्य उसे क्या दीजिये।
ले दीपक को हाथ मत खोज सूर्य की कीजिये॥१॥

देव स्वच्छ से स्वच्छ, तुच्छ क्या अर्घ दिये से।
अर्थ होय क्या सिद्ध, शुद्ध को शुद्ध किये से॥
सब को करे पवित्र, मित्र सब का ही जो है।
करवाऊं जो पांच, आचमन कैसे सो है॥
अति निर्मल के स्नान हित, नीर कहां से लाइये।
नदी तड़ाग समुद्र में पावन जल कहँ पाइये॥२॥

पूर्ण देव सर्वत्र, वस्त्र कैसे पहनाऊं।
निरालम्ब को कौन यज्ञ उपवीत बनाऊं॥
नहिं इच्छा की गंध, गंध किस भांति सुंघाऊं।
सच्चित परमानन्द, कन्द किस भांति रिझाऊं॥
परम रम्य से रम्य को गहना क्या पहना सकूं।
सुन्दर को सुन्दर करे सो सुन्दर न बना सकूं॥३॥

नित्य तृप्त चहुँ कोण कौन नैवेद्य खिलाऊं।
राग विराग समान, पान कैसे चबवाऊं॥

व्यापक देव अनन्त अन्त जिस का नहिं पाऊं ।
कहो कौन विधि तात ! सात प्रदक्षिण धाऊं ॥
अद्वितीय विभु देव को विनती कौन सुनाइये ।
जो हो कोई दूसरा, तो उसकी स्तुति गाइये ॥४॥

जो हो देव अवेद्य, वेद क्या उसे सुनाऊं ।
पढ़ि पढ़ि वैदिक स्तोत्र, कौन विधि उसे मनाऊं ॥
उसका कौन विधान, भानु सम स्वयं प्रकाशे ।
विभु की आरति हेतु, रीति कोई नहीं भासे ॥
नहीं विषय जो नेत्र का कैसे उसको देखिये ।
पेख सकें नहिं रुद्र विधि कैसे उसको पेखिये ॥५॥

बाहर अन्तर पूर्ण, शून्य वस्तु नहिं कोई ।
तीन लोक त्रयकाल, काल सम व्यापक जोई ॥
परम तत्त्व परधाम, धाम सब ही हैं जिसके ।
वस्तु नहीं है कोय, होय जो बाहर उसके ॥
सर्व रूप अस देव का कहां विसरजन कीजिये ।
कौन देश में है न वह, देश वता सो दीजिये ॥६॥

अक्रिय बोध स्वरूप, क्रिया करते जिससे सब ।
सेवन सो ही देव, होय कोई समरथ कब ॥
पूजा आरति तासु नहीं कोई कर सक्का ।
भोग तथा मिष्टान्न, पान कैसे धर सक्का ॥
कैसे पूजें तव उसे, मौन धार कर पूजिये ।
करें विनय किस भांति से आत्मपरायण हूजिये ॥७॥
एक बुद्धि मन चित्त, परा पूजा मन लावे ।
जन सुकृति सो धन्य, अन्य में नहीं लुभावे ॥

निश दिन मास रु पक्ष लक्ष ऐसा ही रक्खे ।
परब्रह्म को पाय अमृत प्याला सो चक्खे ॥
यही परम कर्त्तव्य है, नहिं कौशल्य ! बिसारिये ।
मिटा मूल से द्वैत को, यक अद्वैत विचारिये ॥ ८ ॥

———:※:———

१३–आत्म बोध की मुख्यता ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

विद्या, प्रतिष्ठा प्राप्त हो, सन्मान हो जहँ जाइये ।
विद्वान, पंडित, शूरमा, दानी, गुणी कहलाइये ॥
कीजै खुशामद राज की, तगमे कई लटकाइये ।
जब तक न आतम बोध हो, नहिं शांति अविचल पाइये ॥

(२)

आचार में चातुर्यता, व्यवहार में कौशल्यता ।
धन पूर्ण कुल की श्रेष्ठता, पुत्रादि की बाहुल्यता ॥
आरोग्य तनु, पूरी उमर, सौ वर्ष तक जी जाइये ।
जब तक न आतम बोध हो, नहिं शांति अविचल पाइये ॥

(३)

धर्मादि हित धन खर्चिये, मन अर्पिये, तनु तोड़िये ।
हित चिंतवन में जाति के, दिन रात ही शिर फोड़िये ॥
संसार उन्नति के लिये, बहु मूल्य आयु गँवाइये ।
जब तक न आतम बोध भो, नहिं शांति अविचल पाइये ॥

(४)

स्वर्गादि पाने के लिये, पूजा भजन सब कुछ करो ।
यश कीर्ति फैलाओ घनी, शतयज्ञ चाहे कर मरो ॥
तजि देह चँवरादिक सहित, चढ़ि दिव्य वाहन जाइये ।
जब तक न आतम बोध हो, नहिं शांति अविचल पाइये ॥

(५)

कवि होय लिखिये लेख रोचक, दिव्य चित्र बनाइये ।
सब ठौर होवे वाह ! वा ! बहु भांति मान बढ़ाइये ॥
स्वामी, महात्मा, सिद्ध, मुनि, योगी यती बन जाइये ।
जब तक न आतम बोध हो, नहिं शांति अविचल पाइये ॥

(६)

हो मान्य सारे लोक में, नेता बनो या चौधरी ।
दुख दर्द मेटो, दुख सहो, या धर्म की धारो धुरी ॥
मन्दिर बनाओ धर्मशाला खोल पुण्य कमाइये ।
जब तक न आतम बोध हो, नहिं शांति अविचल पाइये ॥

(७)

धन धान्य पुत्र सुपात्र हो, नारी सुशीला सुन्दरी ।
शारद विशारद नीतिवित् बुद्धी सकल गुण मन्दिरी ॥
शुभ कर्म करिये आयु भर विद्वान साधु जिमाइये ।
जब तक न आतम बोध हो नहिं शांति अविचल पाइये ॥

(८)

सुख भोग होवे स्वर्ग का, सेवा करें सुर-अप्सरा ।
हो सैर नन्दन बाग की, नहिं कार्य कुछ तो भी सरा ॥

करि भोग पूरा अन्त में गिर कर यहां ही आइये ।
जब तक न आतम बोध हो, नहिं शांति अविचल पाइये ॥

(९)

हों दास दासी सैकड़ों, हो राज्य सारी भूमि का ।
मिल राज्य जावे स्वर्ग का, फिर भी नहीं कुछ काम का ॥
पाताल से आकाश तक, अपनाहि हुक्म चलाइये ।
जबतक न आतम बोध हो, नहिं शांति अविचल पाइये ॥

(१०)

सब विधि प्रतिष्ठा से रहित, निर्धन दरिद्र अपंग हो ।
दुर्गन्धि युत हो कुष्ट से, भोजन रहित नग्नांग हो ॥
हो बोध जिसको आत्म का, कौशल्य सोहि सराहिये ।
जब तक न आतम बोध हो, नहिं शांति अविचल पाइये ॥

——:०:——

१४—संग्रह वृत्ति ।

छप्पय छन्द ।

(१)

संग्रह दुख का हेतु, केतु, ग्रह सम उत्पातिन ।
करे बुद्धि का नाश, आस उपजावे दिन दिन ॥
कार्याकार्य विचार, धार बुद्धी नहिं सकती ।
भूले इष्ट अनिष्ट, दुष्ट विषयन में फंसती ॥
संग्रह में दुख होत है, रक्षण में नर हो दुखी ।

(२)

संग्रह ग्राह बलिष्ट, पुष्ट डाढ़ें है रखती।
उलटी सुलटी डाढ़, गाढ़ जीवन कूं भखती॥
जो आ जावे पास, ग्रास उसका ही करती।
सक्ता नहिं सो छूट, ऊंट ज्यों गला पकड़ती॥
संग्रह वृत्ति महान विष, तृषा न भूख विचारती।
एक बार मारत गरल, जन्म जन्म यह मारती॥

(३)

संग्रह अनरथ खानि, मान अभिमान बढ़ावे।
उपजावे अज्ञान, ज्ञान विज्ञान नशावे॥
निज पर देह बनाय, हाय! यह कैसा अनरथ।
आंतर संग्रह मुक्त, युक्त सोही है समरथ॥
दया दान शुभ वासना, संग्रह वृत्ति नशावती।
मोह अन्ध करि जीव को, जन्म २ भटकावती॥

(४)

स्वार्थ हेतु मोहांध, बन्धु बांधव कूं मारत।
देवे नाना कष्ट, भ्रष्ट नहिं धर्म विचारत॥
संग्रहयुत को चोर, डाकु लोभी ठग तकते।
राजा मंत्री आदि, दांत निश दिन हैं रखते॥
वृष्टि, अग्नि, भूकम्प, जल, इन सबसे भय खाय है।
संग्रह भय की भूमि है, चतुर वहां नहिं जाय है॥

(६)

संग्रह का अभिमान, मान वृद्धों का ढावे।
बोयु बीज मद मोह, द्रोह की वेल बढ़ावे॥
हो सैर नन्दन बाग की, नहिं काय कुछ [illegible]

संग्रह दुख की मूल, भूल नाना उपजावे ।
करे शत्रु को मित्र, मित्र को शत्रु बनावे ॥
बोतल बीस शराब की, नशा इतना नहिं लावती ।
संग्रह मदिरा तीक्ष्ण अति, भूमि मंदिर हिलावती ॥

(६)

संग्रह नदी अधर्म, धर्म मर्यादा तोड़े ।
नाशे बोध, प्रबोध क्रोध से नाता जोड़े ॥
बढ़ा काम मद, लोभ, क्षोभ बुद्धी में लावे ।
चिन्तातुर करि चित्त, नित्य बिनु अग्नि जलावे ॥
जो संग्रह को त्यागता, सो ही होता है सुखी ।
जो संग्रह अनुरागता, दुखियों में अति ही दुखी ॥

(७)

संग्रह से हो मुक्त, चित्त निर्मल हो जावे ।
निर्भय, रहे निशंक, जहां चाहे तहं जावे ॥
संग्रह रक्खे दूर, शूर सो मुक्त मुमुक्षू ।
वही साधु वहि सिद्ध, वही निज परहित इच्छू ॥
संग्रह है दलदल महा, जो उसमें फंस जाय है ।
ज्यों ज्यां चाहे निकलना, त्यों त्यों नीचा जाय है ॥

(८)

संग्रह महा समुद्र, छिद्र छल कपट भरा है ।
सुख जल की नहिं गन्ध, अन्ध बन जीव गिरा है ॥
संग्रह दुख कर जेल, मेल कर मूढ़ मरा है ।
पावे नाना कष्ट इष्ट से दूर पड़ा है ॥
संग्रहवान मनुष्य को, मित्र कुटुम्ब खसोटते ।
संग्रह रहित कौशल्य! नित, सुख शय्या पर लोटते ॥

१५—प्रारब्ध ।

भुजंगी छन्द ।

(१)

महा सिद्ध योगी मुनी या ऋषी ने ।
कभी भी न प्रारब्ध देखी किसी ने ॥
न देखे हुये का भला क्या भरोसा ।
तजो मित्र ! प्रारब्ध की सर्व आशा ॥

(२)

यती भक्त ध्यानी तथा संत ज्ञानी ।
सभी ने हि प्रारब्ध है भोग मानी ॥
भरोसा न प्रारब्ध का कोइ कीन्हा ।
किया यत्न सो ही परब्रह्म चीन्हा ॥

(३)

किया यत्न ब्रह्मा हुये सृष्टि कर्त्ता ।
हुये यत्न से विष्णु संसार भर्त्ता ॥
हुये यत्न से शंभु संहारकारी ।
हुये यत्न से सिद्ध आकाश चारी ॥

(४)

मुमुक्षू ! न प्रारब्ध में चित्त दीजे ।
सदा ज्ञान की प्राप्ति में यत्न कीजे ॥
करो यत्न पूरा न आलस्य आवे ।
वही धन्य है जो अविद्या मिटावे ॥

नहीं कर्म से भिन्न प्रारब्ध कोई ।
किये पूर्व जो कर्म प्रारब्ध सोई ॥
न विश्वास प्रारब्ध का भूल कीजे ।
न हो सिद्धि प्रारब्ध को मान लीजे ॥

(६)

रखे थाल में दिव्य मिष्टान्न नाना ।
उठा हाथ से दांत से हो चबाना ॥
तभी तृप्ति होवे तभी भूख जावे ।
हिलाये विना हाथ क्या हाथ आवे ॥

(७)

विना औषधी रोग कोई न जाता ।
विना यत्न के सिद्धि कोई न पाता ॥
विना यत्न के धर्म पावे न कोई ।
नहीं अर्थ या काम की सिद्धि होई ॥

(८)

रहा बैठ प्रारब्ध पे मूर्ख सोई ।
कमाई कई जन्म की व्यर्थ खोई ॥
करो यत्न प्रारब्ध का ध्यान छोड़ो ।
पड़ें विघ्न लाखों कभी म्हूँ न मोड़ो ॥

(९)

सहो दुःख भारी न हा हा पुकारो ।
न रोओ न धोओ सदा धैर्य धारो ॥

धरे धैर्य जोई वही मर्द शूरा ।
वही भक्त ज्ञानी वही संत पूरा ॥

(१०)

विसारो सभी ब्रह्म को ही विचारो ।
यही संत भाषें यही वेद चारो ॥
न कौशल्य ! प्रारब्ध पे बैठ जाओ ।
करो यत्न त्रीलोक का राज्य पाओ ॥

——:❀:——

१६—हितोपदेश ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

हो तीव्र इच्छा ज्ञान की तो त्याग लज्जा दीजिये ।
लज्जा जगत् की है दुखद नहिं भूल लज्जा कीजिये ॥
सीधे सरल मन कर्म वाणी छल कपट से मुक्त हो ।
संसार की जड़ काट के निज आत्म में अनुरक्त हो ॥

(२)

माता पिता बूढ़े वड़े गुरु पूज्य हैं सन्मानिये ।
बाधा करें परमार्थ में तो त्याज्य पांचों मानिये ॥
हो तीव्र इच्छा मोक्ष की माता पितादिक छोड़िये ।
निज आत्म के कल्याण हित नाता सभी से तोड़िये ॥

(३)

धन धाम अरु व्यवहार जग निर्वाह हित व्यापार हैं ।
जो विघ्न डालें मुक्ति में तीनों हि शिर के भार हैं ॥

बाधक तुम्हे हों दीखते वो शत्रु उनको मान कर ।
दे त्याग जल्दी से उन्हें निज आत्म का कल्याण कर ॥

(४)

पूरा न हो वैराग्य यदि कल्याण की नहिं आश हो ।
तो त्याग मत जब तक तुम्हे नहिं आत्म में विश्वास हो ॥
नहिं बुद्धि अपनी काम दे तो शरण गुरु की लीजिये ।
निज बुद्धि का परित्याग कर विश्वास उन पर कीजिये ॥

(५)

कल्याण हो यदि इष्ट तो मत बात जग की मानिये ।
सन्मार्ग का उपदेशकर्ता एक सद्गुरु जानिये ॥
जग के कुटुम्बी जगत् में फंसना तुम्हें बतलांय हैं ।
कहते अहित को परमहित हितको अहित जतलांय हैं ॥

(६)

काशी नहीं है दूर कुछ कुत्ता बहुत ही तेज है ।
दिन तीन में जावे पहुंच यात्रा अगर करना चहै ॥
पर जाति भाई अन्य कुत्ते मार्ग उसका रोकते ।
जाने नहीं देते उसे, हैं देखते ही भोंकते ॥

(७)

मारें, लड़ें, घायल करें, दो पैर भी जाने न दें ।
रोटी मिले सो छीन लें, पानी तलक आने न दें ॥
यात्रा करे कैसे भला चलने हि नहिं जब पाय है ।
दुर्भाग्य यों परतंत्र हो, रस्ते हि में मरजाय है ॥

(८)

जिस जाति से, जिस देशसे, जिस अर्थ से, जिस मित्रसे ।
कल्याण अपना हो नहीं, तज दो उसे ही दूर से ॥
प्रिय ! साथ उनका छोड़िये, सम्बन्ध उनसे तोड़िये ।
सद्गुरु चरण की ले शरण, शुचि प्रेम उनमें जोड़िये ॥

(९)

कीड़े नरक के नरक में सुखमानि आयु बितांय हैं ।
"आओ नरक में आप भी" सबको यही सिखलांय हैं ॥
निन्दा करें या लोभ दें, मत कान उस पर दीजिये ।
नहिं श्रेय जिसमें आपका, क्यों कार्य ऐसा कीजिये ॥

(१०)

इस देह का अभिमान यह बंधन बड़ा मजबूत है ।
तोड़े उसे उसके लिये संसार कच्चा सूत है ॥
कौशल्य ! उसको तोड़ दे, नहिं देर का कुछ काम है ।
टूटा जहाँ तहँ जान ले, तू आप ही सुख धाम है ॥

१७—ऐसी हि हो ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

प्रण कीन दृढ़ मन्दालसा मम गर्भ में जो आयगा ।
निश्चय करूंगी मुक्त, सो नहिं जन्म दूजा पायगा ॥
भव से निकाले पुत्र को नहिं दूसरा फिर जन्म हो ।
निज पुत्र की हितकारिणी हो मातु तो ऐसी हि हो ॥

(२)

हे पुत्र ! गोपीचन्द ! ले ले योग माता ने कहा ।
कीन्हा चिरंजीवी उसे, है आज तक यश छा रहा ॥
जो पुत्र के कल्याणहित तजि पुत्र दे निर्मोहि हो ।
माता उसे ही जानिये, हो मातु तो ऐसी हि हो ॥

(३)

पितु वाक्य शिरधर परशुधर, शिरकाट माता का दिया ।
देखा उन्हें हि प्रसन्न जब तक मातु को जिलवा लिया ॥
राजी रखे पितु मातु को दोनों हि का हितकार हो ।
नहिं धर्म से अपने हटे, हो पुत्र तो ऐसा हि हो ॥

(४)

श्री कृष्ण ने पितु मातु का बंधन छुड़ाया जगत का ।
परलोक का भी सुख दिया, कारण मिटाया अहित का ॥
इस लोक अरु परलोक में पितु मातु का कल्याण हो ।
ऐसा करे, है पुत्र वहि, हो पुत्र तो ऐसा हि हो ॥

(५)

पा जन्म राक्षस वंश में, प्रह्लाद ने हरि को भजा ।
पाये अनेकों कष्ट तो भी भक्ति करना नहिं तजा ॥
निज इष्ट को भजता रहे कितना हि चाहे विघ्न हो ।
नहिं भय करे नहिं दीनता, हो भक्त तो ऐसा हि हो ॥

(६)

आपत्ति पर आपत्तियां मीरा सहीं नहिं हाय की ।
विष का पयाला पी गई कुछ भी नहीं परवाह की ॥

माने कभी नहिं दुःख को, मरने तलक का भय न हो ।
दिन रात श्रीपति को रटे, हो भक्त तो ऐसा हि हो ॥

(७)

राजा जनक ने दान दीना याज्ञवल्क्य लिया उसे ।
शोभे तभी ही दान हों दाता गृहीता एक से ॥
नहिं दग्ध हाथों को करे दोनों हि का अतिश्रेय हो ।
कल्याण कर सब भांति से, हो दान तो ऐसा हि हो ॥

(८)

मल्लाह पुत्री से हुये, विस्तार वेदों का किया ।
करि शास्त्र रचना विविध विध संसार भर को सुख दिया ॥
कल्याण कर्ता व्यास सम जग में न कोई अन्य हो ।
तारे महापापी तलक, कल्याण कर ऐसा हि हो ॥

(९)

जो जन्म ले नहिं जन्मता, जन्मा उसे ही जानिये ।
मरकर नहीं मरता पुनः मरना उसी का मानिये ॥
ले जीत जग संग्राम को, रणशूर उसको हि कहो ।
हैं अन्य झूठे शूर, जो हो शूर तो ऐसा हि हो ॥

(१०)

सो बुद्धि है व्यभिचारिणी निज आत्म से जो दूर है ।
है बुद्धि सो ही पतिव्रता जो आत्म रति में चूर है ॥
है बुद्धि वहि कौशल्य ! जिसका आत्म से नहिं भेद हो ।
जल दुग्ध सम रहवे मिली, हो बुद्धि तो ऐसी हि हो ॥

१८—बोध ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

सुख वास्तविक है आत्म में, गुरु, संत, शास्त्र प्रमाण हैं ।
जो ढूँढ़ते सुख जगत् में, वे मूर्ख, पशु, अंजान हैं ॥
सुख प्राप्त करने जगत् में, जितने हि जितने धायंगे ।
उतने हि उतने आत्म से हम दूर हटते जायंगे ॥

(२)

जग में प्रतिष्ठा मान हित नर अज्ञ आयु बितांय हैं ।
हैं आप करते यत्न यहि, यह अन्य को सिखलांय हैं ॥
अपयश न हो जग में कहीं दिन रात यह हो ध्यान है ।
बिगड़ी प्रतिष्ठा आत्म में, इसका न कुछ भी ज्ञान है ॥

(३)

छोटे, बड़े, निर्धन, धनी सर्वत्र ईश्वर जानते ।
पर पाप करने में नहीं भय लेश उस का मानते ॥
नर तुच्छ देखें सामने तो पाप से रुक जांय हैं ।
सर्वत्र व्यापक ईश से पर मूढ़ नहिं सकुचांय हैं ॥

(४)

सत् आत्म अपना छोड़ कर मिथ्या पदारथ चाहना ।
इस से अधिक क्या होयगा मूरखपना पागलपना ॥
नहिं नाश जिसका होय उसको नाश वाला मानना ।
यहि जन्म [illegible] दुख यहि मरण

(५)

भीतर जगत् है चित्त में, बाहर निकालें चित्त से ।
यह बात हैं नहिं जानते, हैं मानते बाहर उसे ॥
यह भूल नर को मारती, भव कूप मांहि गिरावती ।
दे जन्म नाना योनि में, बहु काल तक भटकावती ॥

(६)

नहिं शब्द होता ठोस में, सुन शब्द पड़ता पोल में ।
डंडा लगे जब अन्य का आवाज हो तब ढोल में ॥
नहिं पोल जिस में ठोस ऐसा एक आतम तत्व है ।
कैसे वहां हो शब्द जहँ नहिं नाम को अन्यत्व है ॥

(७)

मिथ्या पदारथ स्वप्न के, हैं स्वप्न में ही सोहते ।
जागे हुए प्राणीन को नहिं वे कभी भी मोहते ॥
जो सो रहे हैं आत्म में, उनको हि सत् भासे जगत् ।
जो जागते हैं तत्व में, देखें जगत् शशशृंगवत् ॥

(८)

जग में नहीं अच्छा बुरा चातुर्यता या मूर्खता ।
नहिं ज्ञान नहिं अज्ञान ही, नहिं नम्रता नहिं क्रूरता ॥
अन्तःकरण के धर्म ये अन्तःकरण ही में बसें ।
जो मूढ़ जानें जगत् में, भवकीच में क्यों नहिं फँसें ॥

(९)

जो भाव भीतर होय है, वहि भाव बाहर आय है ।
[illegible] आग हैं जैसा पदारथ खाय है ॥

भीतर जगत् जो राखता बाहर उसे जग संभवे ।
जो मग्न रहता आत्म में सर्वत्र आतम अनुभवे ॥

(१०)

घट तेल का धोया करो नहिं शुद्ध होवेगा कभी ।
जावे तपाया आग में चिकनापना जावे तभी ॥
नहिं मुक्त हो कौशल्य ! जब तक कर्म में अनुरक्त है ।
बोधाग्नि में तपता जभी होता तभी नर मुक्त है ॥

—※—

१६—वहि धन्य है ! वहि धन्य है !!

हरिगीत छन्द ।

(१)

धन पाय मनमें गर्व नहिं, दारिद्र में नहिं दीनता ।
नहिं मित्र से ही मित्रता, नहिं शत्रु से ही शत्रुता ॥
आपत्ति सम्पत्ति एकसी, सम चित्त नित्य प्रसन्न है ।
जीवन उसी का है सफल, वहि धन्य है ! वहि धन्य है !!

(२)

कामिनि रसीले नयन लखि नहिं क्षोभ मन में लाय है ।
सोते समय, नहिं स्वप्न में भी ध्यान उसका आय है ॥
गुरुभक्ति शम दम आदि शुभ गुण से सदा सम्पन्न है ।
जीवन उसी का है सफल, वहि धन्य है वहि ! धन्य है !!

(३)

पांचों विषय विष जानकर, जो दूर से ही त्यागता ।
धन पुत्र अरु परिवार में न[illegible]

सुख को नहीं सुख मानता दुख में नहीं मन खिन्न है ।
जीवन उसीका है सफल; वहि धन्य है! वहि धन्य है ॥

(४)

इच्छा नहीं स्वर्गादि की, नहिं द्वेष कुछ नरकादि से ।
कीटादि से ब्रह्मा तलक, हैं दीखते मिथ्या जिसे ॥
जल में कमल जल से अलग संसार से त्यों भिन्न है ।
जीवन उसी का है सफल, वहि धन्य है ! वहि धन्य है !!

(५)

निन्दा प्रशंसा एकसी, न हर्ष ही न विषाद ही ।
नहिं मान नहिं अपमान कुछ है नित्य आत्म प्रसाद ही ॥
निर्द्वन्द्व जिसकी दृष्टि में नहिं पाप है नहिं पुण्य है ।
जीवन उसी का है सफल, वहि धन्य है ! वहि धन्य है !!

(६)

सत् वस्तु क्या है असत् क्या, अच्छी तरह से जानता ।
आशा असत् की त्यागकर सत् में परम रति मानता ॥
तजिकर अनातम भाव सब में आत्म भाव अनन्य है ।
जीवन उसी का है सफल, वहि धन्य है ! वहि धन्य है !!

(७)

मैं, तू तथा वह भेद यह है त्रिपुटी में भासता ।
रहती नहीं जब त्रिपुटी अद्वैत एक प्रकाशता ॥
ऐसा समझ त्रिपुटी परे निज रूप में संलग्न है ।
जीवन उसी का है सफल, वहि धन्य है ! वहि धन्य है !!

(८)

करतां श्रवण निज आत्म का नित आत्मका हि विचार है।
है ध्यान हरदम आत्म का, दूजा नहीं आचार है॥
मन आत्म में, चित आत्म में, मति आत्म सुखमें मग्न है!
जीवन उसीका है सफल, वहि धन्य है! वहि धन्य है!!

(९)

गुरु वाक्य सुनि, मन मांहि गुनि, देखे अखिल अद्वैता।
मेटे असम्भव दोष, नाशे मूल से विपरीतता॥
निश्चय करे अपने सिवा नहिं ब्रह्म कोई अन्य है।
जीवन उसीका है सफल, वहि धन्य है! वहि धन्य है!!

(१०)

कौशल्य! नरतनु पाय के भव कीच में क्यों जाय है।
द्विज देह, गुरुपूरण कृपा, बड़ पुण्य से नर पाय है॥
अवसर मिले चूके नहीं सो ही पुरुष जग मन्य है।
जीवन उसीका है सफल, वहि धन्य है! वहि धन्य है!!

——:※:——

२०—अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्मज्ञान जारता।

नाराच छन्द।

(१)

अनेक भांति शुक्ल कृष्ण कर्म नित्य कीजिये।
न होय शांति तीर्थ न्हाय द्रव्य दान दीजिये॥
न पाप बीज विप्र का जिमावना निवारता।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म

(२)

पचास यज्ञ कीजिये हजार कष्ट पाइये ।
भले हि स्वर्ग लोक जाय इन्द्र होय जाइये ॥
मिटे न कर्म पास कृष्णचन्द्र यों पुकारता ।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता ॥

(३)

उपासना तथाहि कर्म शुद्धि हेतु धारिये ।
मिटे अशुद्धि चित्त की निजात्म को विचारिये ॥
निजात्म ज्ञान देह बुद्धि शीघ्र ही विसारता ।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता ॥

(४)

बिना विवेक क्या कभी विराग कोइ पाय है ।
बिना विराग के नहीं प्रपंच राग जाय है ॥
तजे न राग मूढ़ सो न ब्रह्म ज्ञान धारता ।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता ॥

(५)

असत्पदार्थ चाहि आत्म सत्य भी असत्य सा ।
अनेक योनि आय जाय जन्म मृत्यु में फँसा ॥
उठाय दुःख ज्यां सुधी न आत्म को विचारता ।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता ॥

(६)

करे अकर्म कर्म कौन, भोग होय है किसे ।
विचार कौन साक्षि, कौन त प्रपंच में फँसे ॥

यथार्थ ज्ञान है यही प्रपंच की असारता ।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता ॥

(७)

प्रसिद्ध है कि उष्णता न शीत के विना हटे ।
अबोध से बना जगत् स्वबोध से हि त्यों मिटे ॥
न चन्द्र ही, न अग्नि, एक सूर्य रात्रि टारता ।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता ॥

(८)

अबोध से पदार्थ ध्यान, ध्यान होत संग हो ।
कराय संग काम आदि जीव बुद्धि भंग हो ॥
प्रपंच मूल काम मोह कूप मांहि डारता ।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता ॥

(९)

न अन्य ज्ञान के समान ब्रह्म ज्ञान मानिये ।
सुबुद्धि सूक्ष्म लक्ष से अलक्ष्य ब्रह्म जानिये ॥
असत्य, सत्य, ज्ञान, ज्ञेय, शब्द ना सहारता ।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता ॥

(१०)

सभी हि ब्रह्म ब्रह्म मैं हिं, ब्रह्म तू पुकारना ।
न होय ब्रह्म ज्ञान यों, निजात्मरूप ब्रह्म धारना ॥
टिकाव होय कोउ शल्य छेदता ना मारता ।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता ॥